Chap-4

चतुर्थ अध्याय

प्रेमचंद की कहानियों में दलित जीवन की समस्याएँ

प्रास्ताविक : ---

आधुनिक कथा-साहित्य की एक प्रमुख एवं व्यावर्तक प्रवृत्ति यह है कि उसमें कथा के ब्याज से मानव-जीवन की कोई-न-कोई समस्या अनुस्यूत रहती है। उपन्यास और कहानी कथा-साहित्य के प्रकार हैं, अतः उनमें कथा तो अपरिहार्य रूप से रहती ही है; परन्तु केवल कथा कहना उपन्यासकार या कहानीकार का उद्देश्य कतई-कतई नहीं होता है। कथा के माध्यम से वे मानव-जीवन की किसी समस्या को उद्घाटित करते हैं। इस प्रकार कथा-साहित्य मानव-जीवन के अध्ययन का एक बहुत अच्छा, बहुत सशक्त एवं बहुत सुंदर माध्यम है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। प्रत्येक कहानी मानव-जीवन की कोई-न-कोई समस्या अवश्य प्रकट करती है। यह हो सकता है कि किसी कहानी में यह समस्या प्रमुख या प्रकट रूप में न आवे, किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि कहानी में कोई समस्या ही न हो।

जब हम मानव-जीवन की समस्याओं पर विचार करते हैं, तो एक

तथ्य से हम परिचित होते हैं कि इन समस्याओं का देशकाल से गहरा संबंध होता है। प्रत्येक समस्या अपने देशकाल में ही यथार्थ या वास्तविक लगती है। ''देश'' का अर्थ है स्थान या प्रदेश-विशेष और ''काल'' का अर्थ है युग या समय। प्रदेश या स्थान-विशेष की अपनी समस्याएँ होती है। एक प्रदेश या ज्वार की जो समस्या होती है, जरूरी नहीं है कि दूसरे ज्वार या प्रदेश की भी वही समस्या हो। उदाहरणतया यदि किसी गाँव या ज्वार में पानी की समस्या है, तो उसको लेकर विवाद या झगड़े भी हो सकते हैं। ''ठाकुर का कुआँ'' में जो समस्या है, वह इसलिए है कि गाँव में दो-चार ही कुएँ हैं। इसके स्थान पर यदि कोई गाँव नदी के किनारे स्थित हो, तो वहाँ ऐसी समस्या नहीं आयेगी। वस्तुतः उसमें मूल समस्या तो कुँ ए या पानी की न होकर, छुआछूत की है। परन्तु तब यह समस्या इस रूप में न आकर किसी और रूप में आ सकती थी।

ठीक इसी तरह ''काल'' या समय विशेष की भी अपनी समस्याएँ होती हैं। किसी युग-विशेष या समय-विशेष की कुछ अपनी समस्याएँ होती हैं। ये समस्याएँ उस समय-विशेष में प्रवर्तमान सामाजिक-धार्मिक मान्यताओं और अवधारणाओं पर आधारित होती हैं। अछूतों के ''मंदिर प्रवेश'' की जो समस्या प्रेमचंद के समय में थी, उसमें अब थोड़ा परिवर्तन आया है। यहाँ तक कि प्रेमचंद के समय में भी बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ जो स्थिति थी, वह १९३४-३५ तक नहीं रही थी।

दूसरी एक बात और भी गौरतलब है। ''काल'' के साथ ''देश'' या स्थान का भी महत्व है। कोई एक समस्या किसी काल-विशेष में देशगत या स्थानगत भिन्नता के आधार पर अलग प्रकार की भी हो सकती है। जो बात गाँव में एक विशेष अहमीयत रखती है, नगर या महानगर में उसका कोई महत्व नहीं होता है। उदाहरणतया किसी गाँव में यदि किसी दलित या अछूत की मृत्यु होती है, तो उसे अग्नि-संस्कार हेतु अलग स्मशान में ले जाया जाता है। अब यदि कहीं दलित-चेतना से उत्प्रेरित युवक

उसका अग्नि-संस्कार गाँव के सर्व-सामान्य स्मशान में करना चाहें तो समस्या पैदा हो सकती है। या जिन गाँवों में अछूतों को गाड़ा जाता है, दफनाया जाता है, वहाँ यदि कोई अग्नि-संस्कार की बात करें तो समस्या पैदा हो सकती है। परन्तु नगरों या महानगरों में इस प्रकार की समस्या नहीं आ सकती।

मानव-जीवन में समस्याएँ पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक शैक्षिक प्रकार की हुआ करती हैं; परन्तु दलित-जीवन में इन्हीं समस्याओं का स्वरूप ठीक वही नहीं होता है, जो दीगर उच्च या सवर्ण जातियों में पाया जाता है। उनकी ये समस्याएँ भी उनके दलित-जीवन से जुड़ी हुई होती हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमने प्रेमचन्द की कहानियों में निरूपित दलित-जीवन की कतिपय समस्याओं को उकेरने का संनिष्ठ प्रयास किया है।

(क) अस्पृश्यता की समस्या : ---

पूर्ववर्ती पृष्ठों में अनेकशः कहा गया है कि भारतीय नवजागरण के कारण दो मुद्दे विशेषतः उभरकर आये हैं- नारी - विमर्श का मुद्दा और दलित-विमर्श का मुद्दा। नारी-विमर्श के मुद्दे को तो प्रेमचंद - पूर्व के अनेक लेखकों ने उठाया था, किन्तु दलित-विमर्श का मुद्दा अपनी तमाम चिंतनमूलक क्षमता के साथ प्रेमचंद में ही उभरकर आता है। प्रेमचंद कितने प्रगतिवादी-जनवादी चिंतक हैं, उनके प्रमाणस्वरूप उन विषयों को अग्रसरित किया जा सकता है जिनमें वे दलित-पीड़ित-शोषित-उपेक्षित वर्ग की समस्याओं को उकेरते हैं। दलित-विमर्श भी उनमें से एक हैं। जब हम दलित-विमर्श की बात करते हैं तो अस्पृश्यता की बात आये बिना कैसे रह सकती है? अस्पृश्यता भारतीय संस्कृति का वह कलंक है, जो मिटाये नहीं मिट रहा है। थोड़ा-बहुत भेद-भाव तो विश्व में सभी जगह है। परंतु मनुष्य के स्पर्श से भ्रष्ट और अपवित्र हो जाने की बात तो

एकदम मानव-धर्म विरोधी है । एक मानव दूसरे मानव का ऐसा घिनौना अपमान कैसे कर सकता है । अरे, स्पर्श ही क्या, परछाई से भी भ्रष्ट होने की बात हमारे यहाँ कही गई है । दक्षिण के कुछ राज्यों में प्रातः दश से पहले और सायं चार के बाद नगरप्रवेश वर्जित माना गया था, क्योंकि उस समय परछाइयां लम्बी होती हैं, अतः किसी ऊँची जाति के व्यक्ति के निम्नजाति के व्यक्ति की परछायीं से भ्रष्ट हो जाने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं । ब्रिटीश शासन के त्रावणकोर के गवर्नमेन्ट गेजेट में तो बाकायदा आंकड़े मिलते हैं कि कौन-कौन-सी अस्पृश्य जातियों से ब्राह्मण वर्ग के लोग कितने-कितने फिट की दूरी से अपवित्र हो जाते थे । उसमें ७२ फिट तक की बात कही गई है ।[१]

इसी मुद्दे को लेकर कई बार कुछ लोग प्रेमचंदजी पर यह आरोप लगाते हैं कि प्रेमचंदजी इस अस्पृश्यतावाले मामले को लेकर अब उतने प्रासंगिक नहीं रहे, क्योंकि अब भारत से अस्पृश्यता खत्म हो गई है; परन्तु और अनेक प्रकार के मिथकों की तरह यह भी एक मिथक ही है कि भारत में अब अस्पृश्यता नहीं रही है । बल्कि आरक्षण-विरोधी दो-दो आंदोलनों के उपरांत यह अस्पृश्यता मानसिक या आंतरिक दृष्टया और अधिक बढ़ गई है और यदि केवल बाह्य अस्पृश्यता की बात करें तो भी कुछ नगरों, महानगरों को छोड़कर दूर-दराज के गाँवों की बात करें तो वहाँ अस्पृश्यता आज भी अपने उसी घिनौने रूप में बरकरार है । अभी सम्प्रति ही राजस्थान के चकवाड़ा गाँव की एक बात प्रकाश में आयी है । यथा-

''राजस्थान के चकवाड़ा गाँव के स्थानिक तालाब से दलितों को पानी का उपयोग करने का सख्त विरोध कर रहे उच्च वर्ग के लोगों से अपने देश के पवित्र संविधान में सबके लिए समान अधिकार के प्रावधान का बराबर अमल कराने के लिए यदि पुलिसकर्मियों ने हस्तक्षेप न किया होता तो परिस्थिति कुछ और ही प्रकार की होती । यहाँ उच्चवर्गीय लोग दलितों को इस तालाब के पानी का उपयोग नहीं करने देते थे और इसलिए

इस संबंध में दोनों पक्षों के बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता था। दलित टस से मस नहीं हो रहे थे और तालाब पर के अपने समान अधिकार को लेकर अडिग थे। फलतः उच्चवर्गीय लोगों ने दलितों का जबरदस्त बहिष्कार किया और तालाब का पानी उनके लिए वर्ज्य है ऐसी बातें प्रचारित करने लगे। यह संघर्ष खूब लम्बा चला और अभी (अक्तूबर २००२) दश महीनों के बाद अंततः उसमें दलितों की विजय हुई। फिर भी गाँव के उच्चवर्गीय लोग, अभी भी, दलितों के उस अधिकार को मन से स्वीकार नहीं कर रहे हैं और इसलिए इस मामले को स्थिति में हमेशा तंगदिली बनी रहती है।'' [२]

महात्मा गांधी अस्पृश्यता के संदर्भ में कहते हैं : ''अस्पृश्यता एक ऐसा सर्प है जिसके सहस्र मुख हैं और जिसके प्रत्येक मुख में जहरीले दांत दिखाई पड़ते हैं। यह इतनी विस्तृत है कि इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। यह इतनी जबरदस्त है कि इसे अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए मनु अथवा प्राचीन स्मृतिकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। --- अस्पृश्यता हिन्दू जाति पर एक लज्जाजनक कलंक है। हिन्दू जाति जब तक इसे मिटाने में सफल नहीं होती, तब तक हिन्दू जाति खतरे में है। --- जिस प्रकार एक रत्ती संखिया से लोटा भर दूध बिगड़ जाता है, उसी प्रकार अस्पृश्यता से हिन्दू धर्म चौपट हो रहा है।'' [३]

वीर सावरकर भी इस संदर्भ में कहते हैं : ''अस्पृश्यों की अपवित्रता, जो केवल मानी हुई पुस्तकों में वर्णित है, मानवता का एक कलंक है। --- जिस क्षण हाथ बढ़ाकर अस्पृश्य का स्पर्श किया, समझो उसी क्षण यह (अस्पृश्यता) सदा-सदा के लिए हल हो गई। --- अस्पृश्यता हमारे देश और समाज के मस्तक पर कलंक है।'' [४] विनोबा भावे इस संदर्भ में बताते हैं : ''अस्पृश्यता की खोज करने के लिए पास का अपना हृदय छोड़कर योग-शास्त्र तक दौड़ने की क्या जरूरत है। --- शरीर किसी का हो स्पष्टतः गन्दगी की गठरी है, आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यंत शुद्ध है। ऐसी स्थिति में अस्पृश्यता किसकी और किसके लिए?'' [५]

बालगंगाधर तिलकने इस बारे में कहा है- "अस्पृश्यता का कोई कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। परमेश्वर के घर का दरवाजा किसी के लिए बंद नहीं है और यदि वह बंद हो जाय, तो वह परमेश्वर नहीं है, ऐसा मैं मानता हूँ।" [६]

किन्तु महात्मा ज्योतिबा फूले और गोपालगणेश सावरकर की भाँति तिलक के अस्पृश्यता-विषयक विचार विद्रोहात्मक और आक्रमक नहीं थे। इस संदर्भ में वे श्रुति, वेद और पुराण पर निर्मम प्रहार नहीं करते थे। इस संदर्भ में नरसिंह केलकर ने अपना समीक्षात्मक मत दिया है, वह विचारणीय है। यथा- "तिलक स्वयं अस्पृश्यता नहीं मानते थे और सार्वजनिक तो क्या पर व्यक्तिगत स्थान पर भी उसे न माना जाय ऐसा ही उनका मत था और सनातनी समाज को आहिस्ते-आहिस्ते समझाया जाय तो वह भी उसे (अस्पृश्यता को) निकाल देगा ऐसा उन्हें लगता था। दलितोद्धार के संदर्भ में सन् १९२० में वे बम्बई में परषिद के लिए हाजिर रहे, परंतु उन्होंने वि.रा.शिंदे के तैयार किए प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं लिए, इसलिए उनकी सहानुभूति ढोंगी स्वरूप की थी ऐसा आरोप उन पर किया जाता है।" [७] धनंजय कीर ने अपने व्याख्यान में लोकमान्य तिलक का दलितों के प्रति जो अनिश्चित दृष्टिकोण था उसे रेखांकित किया है। उनके अनुसार तिलक का दलितों के बारे में दृष्टिकोण अनिश्चित और पक्षपातपूर्ण था, उपकारक नहीं था। [८] सावरकर भी अस्पृश्यता के विरोधी थे और सहभोजन तथा दलितों के मंदिर-प्रवेश जैसे आंदोलन उन्होंने चलाये थे, किन्तु सावरकर के मतानुसार दलितोद्धार के लिए धर्म-परिवर्तन या जाति-परिवर्तन की जरूरत नहीं थी। हिन्दू रहकर भी यही उद्धार और जागरण संभव है। इस प्रकार सावरकर हिन्दुत्व के घेरे को उल्लंघित न करते हुए उसमें ही दलितोद्धार की संभावना को तलाशते हैं। [९]

परन्तु दलितोद्धार को सही दिशा तो डॉ.बाबासाहब आंबेडकर ने दी। वर्ण-व्यवस्था को न्यायिक बतानेवाली मनुस्मृति का उन्होंने जाहिर में दहन किया। कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह, महाड़ सत्याग्रह, मुखेड़ गांव का

सत्याग्रह, रामकुण्ड प्रवेश सत्याग्रह, रामरथ-उत्सव विषयक सत्याग्रह द्वारा एक तरह से उच्चवर्णीय सनातनी हिन्दूओं को ललकारा। सन् १९३५ में उन्होंने धर्मान्तरण संबंधी ऐतिहासिक घोषणा की थी- "मैं हिन्दू के रूप में जन्मा हूँ, पर हिन्दू के रूप में मरूंगा नहीं।" [१०] उनके संदर्भ में कहा गया है - "अस्पृश्यता राष्ट्रीय प्रश्न है, उसे मानवीय मूल्य से तौलना चाहिए, अस्पृश्यता से भारतीय एकात्म जीवन खंडित हुआ है, जाति-निर्मूलन के सिवा देश सम्पन्न और समृद्ध नहीं होगा, हिन्दू समाज को समता की नींव पर पुनर्गठित होने की आवश्यकता है, चातुर्यवर्ण की दीवारें गिराकर एक वर्णी समाज में सच्चा राष्ट्र पलता है। इस प्रकार की भाव-विह्वलता और तड़प से दलितोद्धार की बात कहनेवाला एक इन्सान अठाहर सौ इक्यानबे में पैदा हुआ और उसके जन्म से पद-दलितों का भाग्य उजागर हुआ।" [११]

संक्षेप में यही सब वह सामाजिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि है, जब प्रेमचंद लिख रहे थे और एक जागरूक और वस्तुनिष्ठ कलाकार होने के नाते उन्होंने उसका यथार्थ आकलन किया है। प्रेमचंद की अस्पृश्यता विषयक विचारधारा में भी क्रमशः विकास हुआ है, जिसे हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में रेखांकित कर चुके हैं।

प्रेमचंदजी द्वारा प्रणीत दलितजीवन पर आधारित कहानियों की विवेचना पूर्ववर्ती अध्याय में कर चुके हैं। इन कहानियों में से जिन कहानियों में अस्पृश्य जातियों के जीवन को लिया गया है, वे कहानियाँ है - सौभाग्य के कोड़े, ठाकुर का कुआँ, मंदिर, मंत्र, घासवाली, सद्गति, दूध का दाम, सती, आगा-पीछा, गुल्ली डंडा, देवी, जुरमाना, मेरी पहली रचना, बौड़म, कफ़न। यहाँ जिन कहानियों में सीधे ही अस्पृश्यता की समस्या है, उनकी चर्चा का उपक्रम है और ऐसी कहानियों में सौभाग्य के कोड़े, ठाकुर का कुआँ, मंदिर, मंत्र, मेरी पहली रचना और बौड़म आदि है।

"सौभाग्य के कोड़े" का नायक नथुवा नामक एक अनाथ बालक है। वह हरिजन या भंगी जाति का है। राय भोलानाथ ने उसे एक ईसाई के

पंजे से छुड़ाया था। तबसे वह अन्य नौकर-चाकरों की भांति राय साहब की कोठी में उनकी रोटियों पर पल रहा था। कहानी में अस्पृश्यता की बात तब आती है जब नथुवा कुतूहलवश रायसाहब की बेटी रत्ना के नरम बिस्तर पर लेट जाता है। एक भंगी का लड़का अपनी बेटी के पलंग पर लेट जाय, यह रायसाहब की बर्दाश्त के बाहर है। वे हंटर से उसकी बेहद पिटाई करते हैं। नथुवा वहाँ से भाग जाता है और ग्वालियर जाकर संगीत की शिक्षा लेकर ना.रा.आचार्य के नाम से विख्यात होता है। राय साहब की आर्थिक स्थिति गिर जाती है और उनकी कोठी नीलाम हो जाती है। संगीत की जिस कंपनी ना.रा. आचार्य ऊँची तनख्वाह पाते थे, वही कंपनी रायसाहब का बंगला खरीद लेती है और आचार्य को रत्नावाला कमरा और पलंग मिलता है। रायसाहब आचार्य को ब्राह्मण समझकर उनसे रत्ना की शादी कर देते हैं। शादी के बाद एक दिन आचार्य रत्ना से पूछते हैं: "आचार्य जानती हो मैं कौन हूँ?--- रत्ना - खूब जानती हूँ। बहुत दिनों से जानती हूँ। जब हम-तुम दोनों इसी बगीचे में खेला करते थे, मैं तुमको मारती थी और तुम रोते थे, मैं तुमको अपनी जूठी मिठाइयाँ देती थी और तुम दौड़कर लेते थे, तब भी मुझे तुमसे प्रेम था, हाँ, वह दया के रूप में व्यक्त होता था।" [१२]

प्रेमचंदजी ने यह संवाद शायद इसी सोच के तहत रखा हो कि भारतीय युवतियाँ इससे प्रेरणा प्राप्त करें कि प्रेम जैसी उदात्त और मानवीय भावना के आगे जात-पांत का विचार कितना तुच्छ है।

आचार्य जब रत्ना से पूछते हैं कि क्या रायसाहब भी जानते हैं। उसके उत्तर में रत्ना कहती है - "नहीं, उन्हें नहीं मालूम। उनसे भूलकर भी न कहना, नहीं तो वह आत्मघात कर लेंगे।" [१३] अब किसी को मन में आ सकता है कि जब इस रहस्य को ही गुप्त रखना है तो यह अन्तर्जातीय विवाह कैसे हुआ, उसमें कौन-सी क्रांतिकारिता आ गई ? यहाँ हमें इस तथ्य को नहीं भूलना चाहिए कि कहानी सन् १९२४ की है। प्रेमचंद तब गांधीजी के प्रभाव में थे ओर महात्मा गांधी अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में

नहीं थे । प्रेमचंद यहाँ शायद अपने युग के इस सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करना चाहते हैं कि छूत-छात का यह भेद अब कुछ ही दिन का मेहमान है । देश के बुजुर्ग बेशक छूत-छात के इस प्रेत की लाश से चिपके रहें, लेकिन समाज की युवा पीढ़ियाँ इसे दफनाकर रहेंगी । बुजुर्ग रायसाहब की तुलना में युवती रत्ना के विचार काफी प्रगतिशील और मानवतावादी है ।

सन् १९२४ में बेलगाँव में कांग्रेस सप्ताह के अवसर पर आयोजित अछूत-सम्मेलन में गांधीजी ने कहा था - "मैं सहभोज तथा अन्तर्जातीय ब्याह को अछूत प्रथा दूर करने के लिए अनिवार्य नहीं मानता । --- मेरे लिए यही कहना पर्याप्त है कि मेरी योजना में अन्तर्जातीय विवाह नहीं है । --- मेरे आश्रम में एक अछूत साथी अन्य आश्रमवासियों के साथ बिना किसी भेद-भाव के भोजन करता है, पर मैं आश्रम के बाहर किसी व्यक्ति को ऐसा करने की सलाह नहीं देता । --- अछूतोद्धार आंदोलन में जिस प्रकार का सुधार करने की सलाह दी जा रही है, उसमें सहभोजन तथा अन्तर्जातीय विवाह की बाधा भी उठा देने की बात कही जा रही है । अपने ऊपर पाखंड तथा अव्यवस्थित चित्तवाला होने का दोष लगने का भय होने पर भी मैं जनता से इनको एकदम दूर करने की सलाह न दूंगा ।" [१४]

वस्तुतः अस्पृश्यता-निवारण महात्मा गांधी के स्वाधीनता-आंदोलन के जो अनेक मुद्दे थे, उनमें से एक थे । उस समय कांग्रेस में कई तरह के लोग थे । अछूतोद्धार के संदर्भ में एकदम विद्रोही-सुर को अपनाकर वे अपना जनाधार खोना नहीं चाहते थे, क्योंकि उनके सामने देश की आज़ादी का मसला पहले था । वे हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत में विश्वास रखते थे और हजारों वर्ष पुराने कुसंस्कारों को धीरे-धीरे हटाना चाहते थे । उनके उपर्युक्त वक्तव्य में अंतिम वाक्य पर गौर करने की आवश्यकता है - "मैं जनता से इनको एकदम दूर करने की सलाह न दूंगा ।"

अतः प्रस्तुत कहानी की रत्ना भी अपने पति नाथूराम आचार्य को सलाह देती है कि वह उसके पिता रायसाहब के सम्मुख अपना जाति-

विषयक रहस्य न खोलें, अन्यथा वे आत्महत्या कर लेंगे। रत्ना एक हरिजन युवक से विवाह करने का साहस करती है, पर उसके पिता के बारे में वह संदिग्ध है। दूसरे यहाँ प्रेमचंद इस बात पर बल देते हैं कि "अछूतों में प्रतिभा की कमी नहीं है, कमी इस बात की है कि उन्हें अपनी प्रतिभा विकसित और प्रदर्शित करने के सुअवसर नहीं मिलते। यदि उन्हें ये अवसर प्रदान किए जाएँ तो अछूत बालक भी सवर्ण बालकों की तरह समाज में स्थान पा सकते हैं।" [१५]

"ठाकुर का कुआँ" कहानी सन् १९३२ में प्रकाशित हुई थी। यह वह वर्ष है जब गांधीजी यरवड़ा जेल में डॉ.आंबेडकर को "पूना पैक्ट" पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर देते हैं। महात्मा के प्राणों को बचाने के लिए डॉ. आंबेडकर को यह निर्णय छाती पर पत्थर रखकर करना पड़ता है। कहानी का नायक जोखू अछूत जाति का है। वह बीमार पड़ा है। गाँव में तीन कुँए हैं - एक अछूतों का, एक ठाकुर का और एक साहू का। अछूतोंवाले कुएँ में कोई जानवर गिरकर मर गया था, इसलिए उसकी पत्नी गंगी अपने बीमार पति को उसका गंदा पानी नहीं पिलाना चाहती थी, जबकि घर में वही पानी था।

गाँव में "अछूत-समस्या" किस कदर हावी है उसका संकेत हमें जोखू और गंगी के प्रस्तुत संवाद से मिलता है - "गंगी बोली - कुएँ से मैं दूसरा पानी लाये देती हूँ। जोखू ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा - दूसरा पानी कहाँ से लायेगी? --- ठाकुर और साहू के दो कुएँ हैं, क्या एक लोटा पानी न भरने देंगे?--- "हाथ-पाँव तुड़वा आयेगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मन देवता आर्शीवाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहूजी एक के पाँच लेंगे। गरीबों का दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी जाते हैं तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता, कांधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएँ से पानी भरने देंगे।" [१६]

पर गंगी का मन नहीं मानता। वह छिपते-छिपाते किसी तरह ठाकुर के कुएँ के पास पहुँचती है और मौका देखकर पानी भरने की चेष्टा करती

है पर ठाकुर के घर का दरवाजा खुलते ही जान बचाकर वहाँ से भागती है। ठाकुर कर कितना आतंक होगा इसका संकेत इससे मिलता है। जब गंगी घर पहुँचती है तो जोखू वही गंदा-बदबूदार पानी पी रहा था। यही कहानी का अंत है। यह प्रेमचंद की एक यथार्थवादी कहानी है। गंगी ठाकुर के आतंक के सामने विद्रोह तो नहीं कर पाती,पर उसके विचारमंथन के द्वारा प्रेमचंद बहुत-कुछ कह जाते हैं - ''गंगी जगत की आड़ में बैठी मौके का इन्तजार करने लगी। इस कुएँ का पानी सारा गाँव पीता है। किसी के लिए रोक नहीं, सिर्फ ये बदनसीब नहीं भर सकते। --- गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियों पर चोट करते लगा - ''हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँचे हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल देते हैं ? यहाँ तो जितने ऊँचे हैं, एक-से-एक छंटे हुए हैं? चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकदमें ये करें। अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद में मारकर खा गया। इन्हीं पंडितजी के घर में तो बारहोंमास जुआ होता है। यही साहूजी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देने में नानी मरती है। किस बात में हैं हमसे ऊँचे? हाँ, मुँह में हमसे ऊँचे हैं। हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे हैं, हम ऊँचे। कभी गाँव में आ जाती हूँ, तो रसभरी आँखों से देखने लगती हैं। जैसे सबकी छाती पर सांप लौटने लगता है, परंतु घमंड यह कि हम ऊँचे हैं।'' [१७]

सन् १९२७ में प्रकाशित ''मंदिर'' कहानी भी अस्पृश्यता की समस्या से जुड़ी कहानी है, किन्तु उसकी चर्चा हम ''मंदिर प्रवेश की समस्या'' के अन्तर्गत करेंगे। ''मंत्र'' कहानी में भी लेखक ने इस समस्या को उठाया है। इस कहानी का प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ था। इस कहानी की गणना भी प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियों में होती रही है। पं.लीलाधर चौबे हिन्दू सभा के कर्णधार हैं। मद्रास में मुल्ला लोग तबलीग का काम शुरू कर देते हैं, तब धर्मविमुख हिन्दुओं के उद्धार का काम पंडितजी को

सौंपा जाता है । तब पहली ही मीटिंग में उनका सामना एक बूढ़े अछूत से होता है :

"बूढ़ा - आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो फिर ऊँच-नीच में क्यों इतना भेदभाव करते हैं?

लीलाधर - इसलिए कि हम पतित हो गए हैं, अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गये हैं ।

बूढ़ा - अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर - मुझे कोई आपत्ति नहीं है ।

बूढ़ा - मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलीधर - जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जाय, जब तक तुम्हारे आहार- व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते । मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो ।

बूढ़ा - हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात-दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते; और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं; पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ । उनसे विवाह-संबंध करने में आपको कदाचित् इनकार न होगा । जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है । जाइए , अभी कुछ दिन ओर अपनी आत्मा का सुधार कीजिए । हमारा उद्धार आपके किए न होगा । हिन्दू समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक मिटेगा ।

लीलाधर - एक ऋषि की संतान के मुँह से ऐसी बातें सुनकर

मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?

बूढ़ा - ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखंड आप लोंगो का रचा हुआ है। आप कहते हैं - तुम मदिरा पीते हो; लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं; लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसलिए न कि वे आपसे बलवान हैं। हम भी आज राजा हो जायें, तो आप हमारे समाने हाथ बांधे खड़े रहोगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान है, वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है?'' १८

उपर्युक्त वार्तालाप में अछूत बूढ़े ने उच्च-वर्ग के लोंगो के पाखंड को अच्छी तरह से समझा है। हिन्दू सभा वालों को अछूतों की याद अब इसीलिए आ रही है कि अन्यथा ये मुसलमान हो जायेंगे। अपने अन्य हिन्दु-भाइयों से स्वयं को श्रेष्ठ मानने के अभिमान को ये एक क्षण के लि विस्मृत नहीं कर सकते। तर्क करने पर ये सीधे कुतर्क पर उतर आते हैं। संस्कारों की दुहाई देने लगते हैं।

इस कहानी में लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि इन तथाकथित अछूतों में कितने ऊँचे मानवीय भाव हैं। जब तबलीग वाले पंडितजी को मरणतुल्य छोड़कर चले जाते है, तब यही बूढ़ा पंडितजी की सेवा-सुश्रूषा करके उन्हें नवजीवन देता है। कहानी के अंत में लेखक ने टिप्पणी दी है - ''पंडितजी ने किसीको शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी - मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूंगा, पहले अपने को शुद्ध कर लूं। ऐसे निर्मल एवं पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता। --- यही मंत्र था, जो उन्होंने इन चांडालों से सीखा था और इस बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए

थे।'' [१९]

''बौड़म'' और ''मेरी पहली रचना'' में भी कहीं-कहीं अस्पृश्यता की समस्या को लेखक ने छुआ है किन्तु उनकी चर्चा ''यौन-शोषण'' की समस्या के अन्तर्गत की जायेगी।

(ख) मंदिर प्रवेश की समस्या : ---

प्रेमचंदजी की ''मंदिर'' कहानी अछूतों के ''मंदिर-प्रवेश'' की समस्या पर आधारित कहानी है। यह कहानी मई १९२७ में प्रकाशित हुई थी। उस समय डॉ. आंबेडकर के नेतृत्व में दलितों के अधिकारों को लेकर तरह-तरह आंदोलन चल रहे थे। महात्मा गांधी का स्वर प्रखर और विद्रोही स्वरूप का न होकर कुछ नरम और मध्यममार्गी था। उन्होंने सनातनी हिन्दुओं के खिलाफ़ यह कार्यनीति अपनायी थी कि उनको उनके ही शस्त्रों से परास्त किया जाए। उनके शस्त्र-शास्त्र थे। गांधीजी हिन्दू शास्त्रों के ही आधार पर यह प्रमाणित कर रहे थे कि अछूत-प्रथा हिन्दू धर्म का अंग नहीं है, बल्कि बाद में जोड़ा गया क्षेपक है और हिन्दू धर्म से इस कलंक को धो डालने से वह पवित्र हो जायेगा। प्रेमचंदजी भी सन् १९३३ तक यह मानते थे कि अछूत-प्रथा शास्त्रानुमोदित नहीं है, परंतु धीरे-धीरे प्रेमचंद जी दो बातों को लेकर आश्वस्त हो रहे थे। एक तो यह कि अछूत-प्रथा ''पवित्र'' हिन्दू धर्म को भ्रष्ट करने के लिए बाद में ऊपर से थोपा गया क्षेपक नहीं है, बल्कि उनकी जड़े बहुत गहरी हैं। उसकी जड़ में उनका आर्थिक पक्ष भी है और अपने निहित स्वार्थों के रहते इन तत्वों के हृदय-परिवर्तन की संभावना कम ही दिखती है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है : ''हरिजनों की समस्या केवल मंदिर-प्रवेश से हल होने वाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। असल समस्या तो आर्थिक है। यदि हम अपने हरिजन भाइयों को उठाना चाहते हैं तो हमें ऐसे साधन पैदा करने होंगे जो उन्हें

उठने में मदद दें। विद्यालयों में उनके लिए वजीफे करने चाहिए, नौकरियाँ देने में उनके साथ थोड़ी-सी रियायत करनी चाहिए।'' [२०]

यद्यपि प्रस्तुत कहानी तो उन्होंने गांधीजी के ही प्रभाव में लिखी है, तथापि कहानी के अंत में सुखिया के पुण्य-प्रकोप में प्रेमचंदीय तेवर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यथा -

''पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर दूर क्यों खड़े हो? पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो सकता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायेंगे। मुझे बनाया, तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊंगी। ताले में बंद रखो, पहरे बैठा दो। हाय, तुम्हें दया छू भी नहीं गयी। तुम इतने कठोर हो। बाल-बच्चेवाले होकर भी तुम्हें एक अभागिन माता पर दया नहीं आयी। तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो। तुम सबके सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे। डरो मत, मैं थानापुलिस नहीं जाऊंगी। मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूंगी।'' [२१]

''मंदिर'' कहानी में सुखिया एक चमारिन है। उसे एक मात्र सहारा, उसका पुत्र, जियावन बीमार है। उसके पति की मृत्यु हो चुकी है। उसका पति स्वपन में आकर उसे कहता है कि उसका बालक ठीक हो जयेगा यदि वह ठाकुरजी की पूजा करे। अतः हाथ के चांदी के कड़े गिरवी रखकर वह पूजा का सामान ले आती है। पंडितजी उसका रूपया तो हथिया लेते हैं, पर उसे मंदिर में नही आने देते। पुजारी और सुखिया के इस संवाद को भी गोरतलब समझना चाहिए :

''सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा - ठाकुरजी के चरन छूने आयी हूँ सरकार! पूजा की सब सामग्री लायी हूँ।

पुजारी - कैसी बेसमझी की बात करती हे रे, कुछ पगली तो नहीं हो गयी है। भला तू ठाकुरजी को कैसे छूएगी?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली - सरकार, वह तो संसार के मालिक हैं।

उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायेगी?

पुजारी - अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया -तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती हे सरकार।'' [२२]

इस पर एक भक्त महोदय कहते हैं : ''मार के भगा दो चुड़ैल को। भरभ्रष्ट करने आयी है, फैंक दो थाली-वाली। संसार में तो आग ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे, तो पिरथ रहेगी कि रसातल को चली जायेगी। --- दूसरे भक्त महाशाय बोले- ''अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।'' [२३]

यहाँ इन दो भक्तो के वार्तालाप के द्वारा प्रेमचंद जन-साधारण में धर्म-विषयक ज्ञान कितना उथला है, यह बतलाना चाहते हैं। वस्तुतः धर्म की सीधी-सादी और सच्ची समझ इन लोगों को देनी चाहिए और यह काम साधु-संत कर सकते हैं, परंतु अपने निहित स्वार्थों के रहते इन साधु-संतों ने ही लोगों को गुमराह किया है। वस्तुतः अब समय आ गया है कि लोगों को धर्म और छद्म-धर्म (श्यूडो-रीलिजियन) के अंतर को बताया जाय। आज भी धर्म के नाम पर अधर्म का बोलबोला हम देख रहे हैं।

ये पंडे-पुरोहित-पुजारी कितने स्वार्थी और लालची हैं। उनकी बातें कितनी दोगली और दोमुंही होती है, उसका परिचय हमें निम्न कथन से होता है :

''अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के भाव देखते हैं कि चरन पर बिरना देखते हैं। सुना है - ''मन चंगा तो कठौती में गंगा।'' मन में भक्ति न हो, तो लाख कोई भगवान के चरणों पर गिरे, कुछ न होगा। मेरे पास एक जंतर है। दाम तो उसका बहुत है पर तुझे एक रूपये में दे दूंगा। उसे बच्चे के गले में बांध देना, बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।'' [२४]

इस प्रकार इस छद्म-धर्म का सारा कारोबार "इधर से खांडा और उधर से बांडा" थीयरी पर चल रहा है। कभी सगुण की बात करेंगे, तो कभी निर्गुण की बात करेंगे। ये ऐसा भी कहेंगे, ये वैसा भी कहेंगे। शास्त्र भी एक नहीं, अनेक है। किसी में कुछ है, किसी में कुछ है। मंदिर-प्रवेश की बात करेंगे तो वे "कठौती में गंगा" की बात करेंगे। कहाँ पकड़ सकते हैं आप उनको।

कुछ लोग यहाँ यह भी कह सकते हैं कि "मंदिर-प्रवेश" की यह समस्या अब प्रासंगिक नहीं रही है। ऐसा कहने वाला या तो भारतीय समाज की सही स्थिति से अनभिज्ञ होता है, या महा काइयाँ। आज भी ग्राम्य-समाज में स्थितियाँ वैसी ही बरकरार हैं। हाँ, कहीं-कहीं चमार-हरिजन अपने-अपने मुहल्लों में अपने-अपने भगवानों के मंदिर जरूर बनवा रहे हैं।

(ग) आर्थिक समस्या : ---

सहस्राधिक वर्षों से इस वर्ग-वर्ण के लोगों पर छद्म-धर्म मान्यताओं तथा शास्त्रों द्वारा जो अनेकानेक नियोंग्यताएँ थोपी गयी हैं, उनके कारण इस वर्ग की आर्थिक स्थिति कभी अच्छी नहीं रही। जिससे अच्छी-सुद्धढ़ आर्थिक स्थिति का निर्माण हो ऐसी स्थितिओं को आने ही नहीं दिया गया। उनको जमीन-जायदाद और संपत्ति के संग्रह का अधिकार नहीं था। फलतः उनकी आर्थिक स्थिति हमेशा इस तरह की नहीं कि उन्हें निरंतर दूसरे वर्गों के समाने लाचार,विवश और झुका हुआ रहना पड़े। जगदीशचन्द्र के उपन्यास "धरती धन न अपना" में इसी समस्या को उकेरा गया है। जातियों के सामाजिक संस्तरण (हायारर्की) में आर्थिक पक्ष की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, इसे समाजशास्त्र का सामान्य अध्येता भी जानता है। गुजरात की "पटेल" जाति उसक एक बढ़िया उदाहरण है। पटेलों की गणना पहले पिछड़ी जातियों में होती थी, और आज भी कहीं-कहीं

जहाँ उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है वहाँ उनकी गिनती पीछड़ी जातियों में ही होती है, परंतु जहाँ उनका आर्थिक स्तर (ग्राफ) उभर गया है, वहाँ-वहाँ वे अब सवर्णों में शामिल हो गये हैं।

प्रेमचंदजी के लेखन में यह बात हमें सर्वत्र मिलती है, इनके उपन्यासों कहानियों लेखों आदि सभी में, कि दलित-वर्ग में जो पिछड़ापन पाया जाता है, उसका एक मूल कारण उनका आर्थिक दृष्टया पिछड़ापन है। इस बात को हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में कई स्थानों पर रेखांकित कर चुके हैं। प्रेमचंदजी ने यह भी बताया है कि ''हरिजनों'' की समस्या केवल मंदिर प्रवेश से हल होनेवाली नहीं है। उस समस्या की आर्थिक बाधाएँ धार्मिक बाधाओं से कहीं कठोर हैं। २३ जनवरी १९३३ के जागरण के संपादकीय में उन्होंने लिखा है -

''हमारे पास कलंक आश्रम, जाफराबाद के हरिजन-सेवक श्री हरिजनदास कलंत का एक पत्र आया है जिसमें वे लिखते हैं कि आज मैं वर्षों से हरिजनों की सेवा कर रहा हूँ, उसमें अपने प्राण लगा रहा हूँ। मेरा यह अनुभव है कि हरिजन मंदिर-प्रवेश के लिए इतने उत्सुक नहीं हैं जितना अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए। वे चाहते है कि अपने गृह-उद्योग द्वारा वे स्वतंत्र हो जायें। उनकी मालर हालत सुधरे। इसलिए हम चाहते हैं कि मशीनरी की उत्पत्ति पर कर लगा दिया जाये। गृह-उद्योग तभी पनपेगा और हम तभी सुखी हो सकेंगे।'' [२५]

''घासवाली'' कहानी में यद्यपि ''यौन-शोषण'' की बात है, तथापि उसकी नायिका मूलिया के संदर्भ में प्रेमचंद यह टिप्पणी करना नहीं भूले हैं: ''मूलिया कुछ दूर निकल गयी, तो क्रोध और भय तथा अपनी बेबसी का अनुभव करके उसकी आँखों में आँसू भर आये। उसने कुछ देर जब्त किया; फिर सिसक-सिसककर रोने लगी। अगर वह इतनी गरीब न होती, तो किसी की मजाल थी कि इस तरह उसका अपमान करता।'' [२६]

यहाँ मूलिया आर्थिक पक्ष पर जोर देती है। लोग उसका अपमान कर जाते हैं इसका एक कारण उसका गरीब होना भी है। चमार होने पर भी

यदि आर्थिक दृष्टयता वह आत्म-निर्भर होती तो यह नौबत नहीं आती। मूलिया रोज घास छीलने जाती है। उसके लिए उसे ठाकुर चैनसिंह के खेतों में भी जाना पड़ता है। यह तो मूलिया का आत्माभिमान ही था कि वह चैन सिंह का विरोध करती है, अन्यथा बहुत-सी दलित स्त्रियाँ अपनी आर्थिक़ विवशता को ही ध्यान में रखकर आत्म-समर्पण कर देती हैं। अपनी आत्मा के साथ यह समझौता उन्हें करना पड़ता है। यही मूलिया जब शहर घास बेचने जाती है तब उसे लोगों की अनचाही और अश्लील बातें भी बरदाश्त करनी पड़ती हैं। चैनसिंह को यह बातें नागवार गुजरती हैं, अतः वह मूलिया के पति की कुछ आर्थिक मदद करता है, ताकि मूलिया को शहर जाकर घास न बेचनी पड़े। कहानी के अंत भाग में मूलिया जो बात करती है, वह भी आर्थिक समस्या की लाचारी को ही रेखांकित करती है। यथा - ''दोनों (मूलिया और चैनसिंह) एक क्षण चुप खड़े रहे। किसी को कोई बात न सूझ रही थी। एकाएक मूलिया ने मुस्कराकर कहा - यहाँ तुमने मेरी बाँह पकड़ी थी। चैनसिंह ने लज्जित होकर कहा - उसको भूल जाओ मूला। मुझ पर न जाने कौन भूत सवार था। मूलिया गद्‌गद् कण्ठ से बोली - उसे क्यों भूल जाऊँ। उसी बाँह गहे की लाज तो निभा रहे हो। गरीबी आदमी से जो चाहे करावे। तुमने मुझे बचा लिया। फिर दोनों चुप हो गये।'' [२७]

उपर्युक्त कथन में एक वाक्य है - ''गरीबी आदमी से जो चाहे करावे।'' संस्कृत में एक उक्ति है - ''बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्'' अर्थात् भूखा आदमी कौन-सा पाप नहीं करता। जो मूलिया गाँव के ठाकुर को खरा-खरा सुना देती है, वही मूलिया अपना घास बेचने के लिए लोगों के गंदे हंसी-मजाक भी बरदाश्त कर लेती है।

प्रेमचंदजी की ''पूस की रात'' कहानी भी आर्थिक-समस्या को उकेरने वाली कहानी है। हल्कू ने कम्बल के लिए सहेजकर किसी प्रकार तीन रूपये पैसे रखे थे। माघ पूस की रातों में खेत की रखवाली के लिए कम्बल चाहिए। उत्तरप्रदेश में खूब ठंड पड़ती है। पर हल्कू ने साहू से

कुछ रूपये उधार लिये थे। वह ऐन वक्त पर मांगने आ गया। हल्कू की स्त्री मना करती है, पर हल्कू से साहू का ताव बरदाश्त नहीं होता। यहाँ भी वही धनिया और होरी वाला हिसाब है। स्त्री की चिरौरी करके वह किसी तरह साहू का मुंह बंद कर देता है। परंतु इसी कारण कम्बल नहीं ला पाता है। फलतः पूस की एक अंधेरी रात में जब हल्कू रखवाली करने जाता है तो उससे ठंड बरदाश्त नहीं होती। खेत से कुछ दूरी पर बाग की सूखी पत्तियों को बटोरकर उसने अलाव तैयार किया और शरीर तापने लगा। कुछ सांसत पड़ती है तो हल्कू को नींद आ जाती है, उधर नील गायों का झुंड खेत का सत्यानाश कर डालता है। हल्कू की सारी मेहनत पर पानी फिर जाता है। हल्कू की स्त्री मुन्नी चिंतित स्वर में कहती है - ''अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।'' [२८]

यहाँ हल्कू की जो मजबूरी है वह गरीबी की है। गरीब व्यक्ति अपनी गरीबी के कारण ही और गरीब हो जाता है। हल्कू यदि कम्बल लाता तो शायद खेत की रखवाली कर सकता था। फसल के पैसों से वह साहू का कर्जा भी चुका सकता था। परंतु साहू को भी उसी वक्त पैसे चाहिए थे। हल्कू की आर्थिक स्थिति अच्छी होती तो वह और कोई बन्दोबस्त कर लेता। परंतु गरीबी के कारण कम्बल के पैसे साहू को दे दिये और बिना कम्बल के खेत बरबाद हो गया। गरीब हल्कू और गरीब हो गया। किसान से मजदूर हो गया। यहाँ एक बात और गौरतलब है। गरीब आदमी अपना दुःख भी ढंग से व्यक्त नहीं कर पाता है। हल्कू का खेत बरबाद हो जाता है, परंतु उसके तुरन्त बाद मुन्नी को यह चिन्ता खाये जाती है कि मालगुजारी के पैसे कहाँ से आयेंगे। गरीब आदमी अपने बच्चे की मौत पर भी पूरी तरह से रो नहीं सकता, क्योंकि उसे क्रिया-खर्च की चिन्ता रहती है।

''मंदिर'' कहानी की सुखिया का बेटा जियावन की मृत्यु का एक कारण उसकी गरीबी भी है। यदि उसके पास पैसे होते तो वह उसकी दवा-दारू करा सकती थी। ''सवा सेर गेहूँ'' की समस्या ''आर्थिक

शोषण की तो है ही, परंतु गरीबी की भी है। कहानी नायक शंकर गाँव के विप्र महाराज से अतिथि-स्वागत के लिए "सवा सेर गेहूँ" लाया था। शंकर ने पंसेरी के बदले खलिहानी में डेढ़ पंसेरी गेहूँ दे दिया था और अपने मन में सोच रहा था कि विप्र जी महाराज का हिसाब लगाया और शंकर से कहा कि उसे कुल मिलाकर ६०/- रूपये देने हैं। शंकर बेचारा साल भर कड़ी मेहनत करके साठ रूपया जुटाता है, तब विप्र महाराज और पंद्रह रूपये ब्याज के मांगता है। वह पंद्रह रूपये शंकर नहीं लौटा पाता और बढ़ते-बढ़ते वह रकम १२०/- रूपये हो जाती है। उसकी एवज में शंकर विप्र महाराज के यहाँ जीवनभर का बंधुआ मजदूर हो जाता है। २० साल वह गुलामी करता है और उसकी मृत्यु के बाद विप्र महाराज उसके लड़के की गरदन पकड़ते हैं।" [२९]

यहाँ मुद्दा आर्थिक, धार्मिक शोषण और अन्याय का तो है, परंतु गरीबी का भी है। शंकर किसान है। गेहूँ पकाता है। पर उसके घर में गेहूँ नहीं है। बाद में विप्र महाराज जब ६०/- रूपये निकालते हैं, उस समय ही वह यदि साठ रूपयों का बंदोबश्त कर देता तो बाद की उतनी बड़ी रामायण न होती। अरे, साल भर बाद वह पंद्रह रूपयों का बंदोबश्त कर देता, तब भी यह नौबत न आती।

"सभ्यता का रहस्य" कहानी के दमड़ी की समस्या भी आर्थिक है। दमड़ी रायसाहब के यहाँ नौकरी करता था, परन्तु अभी वेतन मिलने में कई दिन की देर थी। अतः अपने बैलों के लिए घास वह मोल ले नहीं आ सकता था। अतः वह बलदेव मेहतों के खेत से कुछ चारा काट लेता है, पर पुलिस के हाथों पकड़ा जाता है। रायसाहब के इजलास में ही मुकदमा आता है और रायसाहब २० हजार की रिश्वत लेकर रईस को खून के मुआमले में जमानत दिला देते हैं। गरीब दमड़ी को सजा होती है, मामूली चोरी के लिए जो जीव-दया से प्रेरित होकर की थी और खून का अपराधी छूट जाता है। [३०]

"सती" कहानी की मुलिया का पति गुप्तरोग का शिकार होता है।

मुलिया के पास पैसे होते तो शहर जाकर वह उसका इलाज करवा सकती थी, परंतु पैसों के अभाव में वह उसका ढंग से इलाज नहीं करवा सकती और उसीमें उसकी मौत हो जाती है । इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दलितों की एक मुख्य समस्या उनकी गरीबी और दरिद्रता है । जैसे कई बार एक बड़ी बीमारी और कई बीमारियों को ले आती है, ठीक उसी प्रकार गरीबी वह महामारी है जिसकी चपेट में और कई बीमारियाँ आ जाती हैं ।

(घ) आर्थिक शोषण की समस्या : ---

प्रेमचंदजी की ''सवा सेर गेहूँ'' कहानी दलितों के आर्थिक शोषण का एक अच्दा उदाहरण है । कहानी का नायक शंकर एक कुरमी किसान है । द्वार पर आये महात्मा के लिए वह गाँव के एक ब्राह्मण देवता के यहाँ से सवा सेर गेहूँ उधार ले आता है । विप्र महाराज शंकर से साल में दो बार खलिहानी लिया करते थे । यह एक प्रकार से उनका धार्मिक कर था । अतः चैत के महीने में जब ब्राह्मण देवता खलिहानी लेने पहुँचे तो शंकर ने पंसेरी के बदले डेढ़ पंसेरी गेहूँ खलिहानी में दिये । ढ़ाई सेर अनाज वह दे देता है । परंतु उसकी कोई स्पष्टता वह करता नहीं है । मारे संकोच के इस प्रकार ब्राह्मण देवता के साथ हिसाब-किताब करना उसे उपर्युक्त नहीं लगता ।

ब्राह्मण देवता सात साल चुप्पी लगा जाते हैं और सात साल के बाद एक दिन अचानक अपना बही-खाता लेकर पहुँच जाते हैं :

''तेरे यहाँ साढ़े पाँच मन गेहूँ कबके बाकी पड़े हैं और तू देने का नाम नहीं लेता, हजम करने का मन है क्या?

शंकर ने चकित होकर कहा - मैंने तुम से कब गेहूँ लिये थे जो साढ़े पाँच मन हो गये? तुम भूलते हो, मेरे यहाँ किसी का छटांकभर न अनाज है, न एक पैसा उधार ।

विप्र - इसी नीयत का तो यह फल भोग रहे हो कि खाने को नहीं जुड़ता। यह कहकर विप्रजीने उस सवा सेर गेहूँ का जिक्र किया, जो आज के सात वर्ष पहले शंकर को दिये थे। शंकर सुनकर अवाक रह गया। ईश्वर मैंने इन्हें कितनी बार खलिहानी दी, इन्होंने मेरा कौन-सा काम किया? जब पोथी-पत्र देखने, साइत-सगुन विचारने द्वार पर आते थे, कुछ-न-कुछ "दक्षिणा" ले ही जाते थे। इतना स्वार्थ! सवा सेर अनाज को अंडे की भाँति सेकर आज यहा पिशाच खड़ा कर दिया, जो मुझे निगल ही जायेगा। इतने दिनों में एक बार भी कह देते तो मैं गेहूँ तौलकर दे देता, क्या इसी नीयत से चुप साधे बैठे रहे? बोला- महाराज, नाम लेकर तो मैंने उतना अनाज नहीं दिया, पर कई बार खलिहानों से सेर-सेर, दो-दो सेर दिया है, अब आप आज साढ़े पाँच मन मांगते हैं, मैं कहाँ से दूंगा?

विप्र - लेखा जौ-जौ, बखसीस सौ-सौ। तुमने जो कुछ दिया होगा, उसका कोई हिसाब नहीं, चाहे एक की जगह चार पसेरी दे दो। तुम्हारे नाम पर बही में साढ़े पाँच मन लिखा हुआ है; जिससे चाहो हिसाब लगवा लो। दे दो तो तुम्हारा नाम छेक दूं, नहीं तो और भी बढ़ता रहेगा।"[३१]

हिसाब लगाया गया तो गेहूँ के दाम ६०/- रूपये हुए। साठ रूपये का दस्तावेज लिखवा लिया गया। तीन रूपया सैंकड़े सूद। एक साल कड़ी मेहनत करके शंकर साठ रूपये तो जोड़ ले लेता है, पर सूद के पन्द्रह रूपये फिर भी रह ही जाते हैं। तीन साल के बाद वे पन्द्रह रूपये बढ़कर एक सौ बीस हो गये थे। विप्र महाराज ने १५ रूपये बाकी नहीं रखे थे। ७५ रूपये बाकी रखे थे। शंकर के साठ जमा किये थे। तीन साल के बाद उन साठ रूपयों को मिनहा करके उन्होंने १२० रूपये निकाले थे। यह हिसाब भी किसीकी समझ में न आवे ऐसा है। इस प्रकार अशिक्षा और धर्म के डर के कारण इन लोगों का आर्थिक शोषण होता रहता है। शंकर को उन १२० रूपयों के लिए विप्र महाराज के यहाँ बंधुआ मजदूर के रूप में गुलामी करनी पड़ती है और रूपये तो जहाँ के तहाँ ही रहते हैं।

शंकर की मृत्यु के बाद विप्रजी महाराज उसके लड़के का गला पकड़ते हैं।

(च) धार्मिक दृष्टया शोषण की समस्या : ---

धर्म और शास्त्र के नाम पर हमारे यहाँ दलितों का शोषण हजारों वर्षों से होता आया है। उसकी जड़े उतनी गहरी हैं कि स्वयं दलितों को ये सब स्वाभाविक लगता है। उसमें उनको अन्याय या शोषण जैसा नहीं लगता है। यह धार्मिक-आतंक इतना है कि लोग पंडे-पुरोहितों और ब्राह्मण देवताओं से थर-थर कांपते हैं। पहले तो ये सारे शास्त्र संस्कृत में रचे गये। देववाणी संस्कृत को पढ़ना-सुनना-समझना एक तरह से उनके लिए वर्जित था, पाप था। पाप-पुण्य की परिभाषाएँ ऐसी विचित्र और वंचनापूर्ण तथा स्वार्थप्रेरित थी कि असली पापी मौज कर रहे थे और बेचारे दलित कल्पित, भ्रामक और छद्म-पाप के नाम से थर-थर कांपते थे। इसके लिए वर्ण-व्यवस्था और पुनर्जन्मवाद जैसी थ्यौरियाँ रची गयीं। वर्ण और व्यवसाय अर्जना नहीं जन्मना हो गये। पूर्व जन्म में आपने न जाने कैसे पाप किये थे कि आप शुद्र जाति में पैदा हुए हैं, अब इस जन्म मे यदि आप कदर-कायदे से जीवन-यापन करते हैं, अर्थात् तीन वर्णों की सेवा, चुपचाप, बिना कोई प्रश्न या ची-चूपड़ किए, तब तो अगले जन्म में आपकी वर्णोन्नति होगी; अन्यथा और भी न जाने कौन-से नरक में सड़ने के लिए पहुँच जाएगे। धर्म का यह भय या डर इनके हाड-मांस-चाम तक में घुस गया है।

ऊपर जिस कहानी का जिक्र हुआ है - "सवा सेर गेहूँ" - उसमें भी यह डर साफ झलकता है। शंकर और विप्रजी महाराज के बीच जो वार्तालाप होता है, उससे यह प्रतिफलित होता है। यथा -

"शंकर - पांडे, क्यों एक गरीब को सताते हो, मेरे खाने का ठिकाना नहीं, इतना गेहूँ किसके घर से लाऊँगा?

विप्र - जिसके घर से चाहे लाओ, मैं छटांक भर भी न

छोड़ूँगा। यहाँ न दोगे, भगवान के घर तो दोगे।'' [३२]

इसके बाद की टिप्पणी भी इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है- ''शंकर कांप उठा। हम पढ़े-लिखे होते तो कह देते, अच्छी बात है, ईश्वर से घर ही देंगे, वहाँ की तौल यहाँ से कुछ बड़ी तो न होगी। कम-से-कम इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं, फिर उसकी क्या चिन्ता, किन्तु शंकर इतना तार्किक, इतना व्यवहार-चतुर न था। एक तो ऋण, वह भी ब्राह्मण का, बही में नाम रह गया तो सीधे नरक में जाऊँगा, इस ख्याल से ही उसे रोमांच हो गया।'' [३३]

फिर आगे वार्तालाप है -

''शंकर - महाराज, तुम्हारा जितना होगा यहीं दूंगा, ईश्वर के यहाँ क्यों दूं, इस जन्म में तो ठोकरें खा ही रहा हूँ, उस जन्म के लिए कांटे बोऊँ? मगर यह कोई नियाव नहीं है। तुमने राई का पर्वत बना दिया, ब्राह्मण होके तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। उसी घड़ी तगादा करके ले लिया होता, तो आज मेरे सिर पर इतना बड़ा बोझ क्यों पड़ता। मैं तो दे दूंगा, लेकिन तुम्हें भगवान के यहाँ जवाब देना पड़ेगा।''

विप्र - वहाँ का डर तुम्हें होगा, मुझे क्यों होने लगा। वहाँ तो सब अपने ही भाई-बंधु हैं। ऋषि-मुनि, सब तो ब्राह्मण ही हैं; देवता ब्राह्मण हैं,तो कुछ बने-बिगड़ेगी, संभाल लेंगे। तो कब दे रहे हो?'' [३४]

''बाबाजी का भोग'' एक लधुकथा-सी है। उसमें रामधन अहीर के दरवाजे पर एक साधु भीख मांगने आता है। भीख में गेहूँ का आटा पाकर साधु मचल जाता है कि अब वह वहाँ ही भोग लगा देंगे। इसी क्रम में रामधन के घर की बची-खुची सामग्री भी बाबाजी के भेंट चढ़ जाती है और पति-पत्नी को भूखों ही सोना पड़ता है। यहाँ भी एक प्रकार के धार्मिक आतंक के कारण ही रामधन यह सब करता है। उसे कहीं डर है

कि साधुबाबा नाराज़ होकर उसे कोई शाप न दे डाले। कहानी में कहा गया है :

"घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घंटी बजाई और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गए। थाली, बटुली और कलछुली रामधन घर में मांजने के लिए उठा ले गया। उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला। खाली दाल पकाकर ही पी ली। रामधन लेटा, तो सोच रहा था - मुझसे तो यही अच्छे।"[३५]

इस संदर्भ में डॉ.कांतिमोहन की यह टिप्पणी भी अत्यन्त महत्व की है : "कहानी क्या है, लुटेरों द्वारा कमेरे वर्ग की लूट पर तीखा व्यंग्य है। .... कथ्य और शिल्प दोनों की दृष्टि से यह लघुकथा एक सशक्त यथार्थवादी रचना है।"[३६]

"सद्गति" कहानी में दुखी चमार पं.घासीराम के घर लकड़ी की मोटी-भारी गांठ फाड़ने में अपना दम तोड़ देता है, उसके पीछे भी यही धार्मिक आतंक है। स्वयं पंडितजी कहते हैं :" अरे, दुखिया तू सो रहा है ? लकड़ी तो अभी ज्यों-की-त्यों पड़ी हुई हैं। इतनी देर तू करता क्या रहा ? मुट्ठी भर भूसा ढोने में संझा कर दी। उस पर सो रहा है। उठा ले कुल्हाड़ी और लकड़ी फाड़ डाल। तुझसे जरा-सी लकड़ी नहीं फटती। फिर साइत भी वैसी ही निकलेगी, मुझे दोष मत देना।"[३७]

दुखी को भी इसी बात का डर है। वह सोचता है : "पंडित है, कहीं साइत ठीक न विचारे, तो फिर सत्यानाश ही हो जाय। तभी तो संसार में इतना मान है। साइत ही का सब खेल है, जिसे चाहें बिगाड़ दें।"[३८]

इस प्रकार सवेरे से कुछ खाया नहीं था। पंडित जी भी काम तो खूब करा लेते है, पर खाने तक का नहीं पूछते हैं। पेट पीठ में धंसा जा रहा था। जी डूबा जा रहा था। उठना भी पहाड़ मालूम हो रहा था, परंतु साइत के डर से बेचारा किसी प्रकार हिम्मत जुटाकर लकड़ी की गांठ फाड़ने में जुट जाता है और उसी में दम तोड़ देता है। "मंत्र" कहानी के

बूढ़े हरिजन में जो चेतना आयी है, उसका अभी दुखिया, रामधन तथा शंकर में अभाव है। वे धर्म के आतंक से थर-थर कांपते हैं।

(छ) अत्याचार और अन्याय की समस्या : ---

दलित जातियों पर अत्याचार और अन्याय तब भी हो रहे थे और आज आज़ादी के पचास वर्ष बाद भी हो रहे हैं। अतः यह समस्या भी प्रासंगिक ही है, अभी अप्रासंगिक नहीं हुई है। ऊपर ''सवा सेर गेहूँ'' कहानी में जिस तथ्य को रेखांकित किया गया है, वह एक प्रकार से अत्याचार और अन्याय ही है। ''सवा सेर गेहूँ'' का '' साढ़े पांच मन गेहूँ'' करना कोई न्याय नहीं है। परंतु गाँव में पंडितजी का इतना आतंक है कि कोई भी व्यक्ति शंकर की तरफ से बोलनेवाला नहीं है। जब शंकर किसी तरह मेहनत-मजदूरी करके साल भर में साठ रुपये जोड़ लेता है, तब भी सूद के पन्द्रह रुपये तो बकाया रह ही जाते हैं। शंकर पूरा गाँव छान मारता है, पर उसे पन्द्रह रुपये नहीं मिलते। उस संदर्भ में लेखक की टिप्पणी देखने योग्य है :

''शंकर ने सारा गाँव छान मारा, मगर किसीने रुपये न दिये, इसलिए नहीं कि उसका विश्वास न था, या किसी के पास रुपये न थे, बल्कि इसलिए कि पंडित जी के शिकार को छोड़ने की किसी की हिम्मत न थी।''[३९]

इस प्रकार पंडित और ब्राह्मण कभी स्वयं हाथ नहीं उठाते थे, पर उनका आतंक सबसे ज्यादा होता था। वे पहलवानों और लठैतों को पालते थे और उनके द्वारा पूरे गाँव पर राज करते थे। आज गुण्डों, बदमाशों और माफियाओं का साथ लिया जाता है। मुम्बइया-भाषा में इसी को ''भाई ''कहते है। और भाई के आतंक से मुंबई जैसे महानगरों में बड़े-बड़े लोगों की टट्टी निकल जाती है।

'' सद्‌गति'' कहानी में दुखिया के साथ जो होता है, वह भी अत्याचार

और अन्याय का ही एक उदाहरण है। दुखिया चमार को भला पंडित जी का क्या काम पड़ सकता है। छठे-छमाहे कभी कोई साइत निकलवाने की होती है। उसके लिए भी बेचारा कितनी तैयारियाँ करके आया है। पंडितजी के लिए खटौली की बात चलती है :

"झुरिया - (दुखिया की पत्नी) कहीं से खटिया न मिल जायगी ? ठकुराने से मांग लाना।

दुखी - तू तो कभी-कभी ऐसी बात कह देती है कि देह जल जाती है। ठकुरानेवाले मुझे खटिया देंगे ! आग तक तो घर से निकलती नहीं, खटिया देंगे ! कैथाने में जाकर एक लोटा पानी मांगू तो न मिले तो भला खटिया कौन देगा ! हमारे उपले, सेंठे, भूसा, लकड़ी थोड़े ही हैं जो चाहे उठा ले जायें। ले अपनी खटोली धोकर रख दे। गरमी के तो दिन हैं उनके आते-आते सूख जायगी।" [४०]

फिर सीधा देने की बात आती है। झुरिया पूछती है कि अपनी थाली में दे दूँ ? तब दुखी कहता है :

" कहीं ऐसा गजब न करना, नहीं तो सीधा भी जाय और थाली भी फूटे ! बाबा थाली उठाकर पटक देंगे। उनको बड़ा जल्दी किरोध चढ़ आता है। किरोध में पंडिताइन तक को छोड़ते नहीं, लड़के को ऐसा पीटा कि आज तक टूटा हाथ लिये फिरता है। सीधा भी पत्तल में देना, हाँ। मुदा तू छूना मत। झूरी गोंड की लड़की को लेकर साह की दूकान से सब चीजें ले आना। सीधा भरपूर हो। सेर भर आटा, आध सेर चावल, पाव भर दाल, आधा पाव घी, नोन, हल्दी और पत्तल के किनारे चार भुर्जिन के हाथ-पैर जोड़कर ले जाना। तू कुछ मत छूना, नहीं तो गजब हो जायगा।"[४१]

दुखिया की उपर्युक्त बातों से ज्ञात होता है कि इन पंडितों का कितना डर-आतंक इन दलित कहे जाने वाले लोगों में था। एक साइत निकालनी

है। उसमें भी इतना सब खर्च। कहते हैं देनेवाले का हाथ ऊपर रहता है, परन्तु यहाँ तो देने वाला ही झुक-झुक कर सलाम बजा रहा है। वैसे अस्पृश्य, परन्तु उनके द्वारा दिया जानेवाला सीधा स्पृश्य !

एक साइत निकलवाने के लिए दुखिया बेचारा इतना सब करता है। बावजूद इसके पंडितजी उससे इतनी बेंगार करवाते हैं कि वह उसी में दम तोड़ देता है। बेचारा चिलम पीने के लिए आग मांगने जाता है, तो पंडिताइन की दुत्कार मिलती है। यथा - ''पंडिताइन ने भवें चढ़ाकर कहा- तुम्हें तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढ़ीजार से चला जाय, नहीं तो इस लुआठे से मुँह झुलस दूंगी। आग मांगने चले हैं।''[४२]

और इस बात पर भी दुखिया पंडिताइन के बारे में कोई बुरी बात नहीं सोचता, उल्टे मन-ही-मन पछतावा करता है - ''दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं ये लोग, तभी तो संसार पूजता है, तभी तो इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही है। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।'' [४३]

ऊपर पंडिताइन का जो कथोपकथन दिया है, उसमें एक वाक्य गौरतलब, है - ''हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई।'' यहाँ एक बात साफ झलकती है कि हमारे यहाँ ''हिन्दू'' से मतलब केवल ऊँची जाति के लोग था। निम्न और दलित जातियों को कभी हिन्दू का दर्जा मिला ही नहीं। डॉ. आंबेडकर के कारण अब इस वर्ग को मताधिकार प्राप्त है, अतः उनके ''वोट्स'' बटोरने के लिए उनसे सहानुभूति जतायी जा रही है। अन्यथा इस वर्ग के लोगों के प्रति उच्च-वर्ण के लोगों का रवैया अधिकांशतः अमानवीय और क्रूरतापूर्ण ही रहा है।

दुखिया इसी बात पर दुखी हो रहा है कि उसने एक पवित्र ब्राह्मण के

घर को अपवित्र कर दिया। पंडिताइन गुस्से में आग की चिनगारी दुखिया को देती है। उसमें वह थोड़ा जल जाता है। उस पर भी वह सोचता है - ''यह एक पवित्तर ब्राह्मण के घर को अपवित्तर करने का फल है। भगवान ने कितनी जल्दी फल दे दिया। इसी से तो संसार पंडितों से डरता है और सबके रुपये मारे जाते हैं, ब्राह्मण के रुपये भला कोई मार तो ले। घर भर का सत्यानाश हो जाय, पाँव गल-गल कर गिरने लगें।'' [४४]

''सौभाग्य के कोड़े'' कहानी में नथुवा एक अनाथ बालक है। रायसाहब उसे एक ईसाई के चंगुल से छुड़ाकर लाये थे। ऐसा रायसाहब समझते हैं। अन्यथा वह ईसाई हो गया होता तो शायद अच्छी स्थिति में रहता। इस संदर्भ में लेखक की टिप्पणी है - ''इन्हें इसकी परवाह न हुई कि मिशन में उसकी शिक्षा होगी, आराम से रहेगा; उन्हें यह मंजूर था कि वह हिन्दू रहे। अपने घर के जूठे भोजन को वह मिशन के भोजन से कहीं पवित्र समझते थे। उनके कमरों की सफाई मिशन पाठशाला की पढ़ाई से कहीं बढ़कर थी। हिन्दू रहे, चाहे जिस दशा में रहे। ईसाई हुआ तो फिर सदा के लिए हाथ से निकल गया।''[४५]

इस प्रकार रायसाहब को एक मुफ्त का नौकर मिल जाता है। पूरी कोठी की सफाई कर रहा था कि अचानक उसके मन में लालच हुआ कि वह रत्ना के पलंग पर लेटें। एकाएक रायसाहब उस कमरे में आ जाते हैं। नथुवा को रत्ना के पलंग पर लेटे हुए देखते ही वे आग बबुला हो गये। एक भंगी की यह जुर्रत कि वह उनकी बेटी के पलंग पर लेटे। यद्यपि इस प्रकार किसी के पलंग पर लेटना उचित नहीं होता है। रायसाहब उसे डांट-डपट सकते थे, थोड़ा-सा मार-पीट लेते। परंतु वे तो हंटर लेकर उस पर टूट पड़ते हैं। उसकी अवस्था का भी विचार नहीं करते। वे तो उसे मार ही डालते। पर रत्ना बीच में पड़कर उसे बचा लेती है। इस प्रकार रायसाहब उसकी खाल उधेड़ लेते हैं। उसकी मरणासन्न पिटाई होती है। यदि नथुवा कुछ ऊँची जाति का होता, तो उसकी पिटाई इतनी बेरहमी से न होती।

''मंदिर'' कहानी की विधवा सुखिया अपने बेटे जियावन को लेकर ठाकुरजी के मंदिर जाती है। जियावन बीमार है और सुखिया को ऐसा विश्वास है कि ठाकुरजी के दर्शन से वह ठीक हो सकता है। पर मंदिर का पुजारी तथा दूसरे लोग उसे मंदिर में घुसने नहीं देते। एक ठाकुर उसे धक्का देता है। इससे बालक उसे हाथ से गिर जाता है और चोट लगने से मर जाता है। इस आघात से सुखिया के भी प्राण निकल जाते हैं। कोई ऊँची जाति के व्यक्ति के साथ ऐसी घटना होती तो फौजदारी केस बन जाता। पर यह बात गाँव में ही दब जाती है। गरीबों और दलितों की औकात ही क्या है ? उनकी जान की कीमत ही क्या है ? कीड़े-मकोडों की तरह उनके जीने-मरने का हिसाब कौन रखता है ?

इस प्रकार ''दूध का दाम'',''सभ्यता का रहस्य'',''सती'' आदि कहानियों में भी हमें इस समस्या के बीज मिलते हैं।

(ज) मानव-अस्मिता की समस्या : ---

दलित जातियों के साथ जो अमानवीय पशुवत् व्यवहार किया जाता है, उन्हें जानवर से भी बदतर समझा जाता है, उसके कारण उनके भीतर की चेतना कई बार समाप्त हो जाती है। वे स्वयं अपने को नीच और कमीन समझने लगते हैं। उनमें दलित-मानसिकता का विकास होता है। इस संदर्भ में ''पीड़ा के दावेदार'' नामक अपनी संपादकीय राजेन्द्र यादव लिखते हैं - ''दलित मानसिकता और दलित-चेतना में अंतर है। मानसिकता सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों से बनती-बिगड़ती और एक सुनिश्चित स्वरूप ले चुकी ऐसी स्थिति है, जिसे स्वयं दलितों और उन्हें दलित बनाए रखने वालों ने प्रारब्ध की तरह स्वीकार कर लिया है। वह एक परिणति है। समाज जिस तरह स्त्री को गढ़ता और बनाता है, उसी तरह दलित मानसिकता को भी एक सामाजिक सहमति और स्वीकृति देता है। इधर दलित-चेतना, इस स्थिति स्वीकार के साथ-साथ इसके

खिलाफ विद्रोह की चेतना भी है।'' [४६] ''सद्गति'' के दुखिया में दलित-मानसिकता है, जबकि ''मंत्र'' कहानी के बूढ़े में हमें दलित-चेतना मिलती है।

प्रेमचन्द की कहानियों में दलितों के संदर्भ में मानवीय-अस्मिता की बात दो तरह से आती है। एक तो इन दलितों में भी प्रेमचंद ऐसे पात्रों का निर्माण करते हैं, जिससे यह बात सामने आती है कि उच्च-मानवीय गुणों पर केवल ऊँची जातियों का ठेका नहीं है। तथाकथित निम्न जातियों में भी ऐसे पात्र मिल जाते हैं जो उच्च-मानवीय गुणों से झिलमिलाते हैं। ''सवा सेर गेहूँ'' कहानी का शंकर विप्र महाराज के अन्यायपूर्ण कर्ज को फेड़ने में अपनी पूरी ज़िन्दगी गारत कर देता है। कोई दूसरा होता तो अपनी बात से मुकर जाता। ''मंत्र'' कहानी का बूढ़ा उस डाक्टर चड्ढा के बेटे कैलास का जहर उतारता है, जिस डाक्टर ने उसके मरते हुए बेटे को देखने से इन्कार महज़ इसलिए कर दिया था कि उस समय वह गोल्फ खेलने जा रहा था।

''अलग्यौझा'' शीर्षक कहानी में भोला मेहतो की जाति नहीं बतायी है, लेकिन कहानी में जो संकेत मिलते हैं उनसे लगता है कि वह अहीर या कुरमी जैसी पिछड़ी जाति का सदस्य है। भोला महतो की मृत्यु के बाद उसकी बेवा पन्ना के बारे में लेखक की टिप्पणी है :

''वह सुंदर थी, अवस्था भी कुछ ऐसी ज्यादा न थी। जवानी अपनी पूरी बहार पर थी। क्या वह कोई दूसरा घर नहीं कर सकती ? यही न होगा, लोग हंसेंगे। बला से ! उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं। ब्राह्मण-ठाकुर थोड़े ही थी कि नाक कट जायगी। यह तो ऊँची जातों में होता है कि घर चाहे जो कुछ करो, बाहर परदा ढका रहे। वह तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर सकती है। फिर वह रग्धू (सौतेले बेटे) की दबैल बनकर क्यों रहे।'' [४७] परंतु पन्ना ऐसा नहीं करती है, बल्कि रग्धू के मर जाने पर उसकी विधवा मुलिया का विवाह अपने बेटे केदार से कर देती है।

मानसरोवर भाग-३ में संकलित कहानी "आधार" का नायक मथुरा भी अहीर, गूजर या कुरमी लगता है। इन जातियों में पुनर्विवाह शुरू से ही होते रहे है और प्रायः बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् विधवा का पुनर्विवाह छोटे भाई से, अर्थात् उसके देवर से करवा दिया जाता है। प्रस्तुत कहानी में मथुरा की मृत्यु के बाद उसकी विधवा पत्नी अनूपा के विवाह की बात जब उसके देवर से उठती है, तब वह यह कहकर माना कर देती है कि जिस देवर को उसने हमेशा बेटे के रूप में देखा हो, उसे अब वह पति के रूप में कैसे देख सकती हैं। इसी कहानी की तुलना "मानसरोवर भाग-४" में संग्रहीत कहानी "भूत" से करने पर प्रेमचंद का अभिप्राय और भी स्पष्ट हो जाता है। "भूत" कहानी के नायक पंडित सीतानाथ चौबे हैं और जब उनकी पत्नी का देहांत हो जाता है, तब वह अपनी छोटी साली बिन्नी से विवाह कर लेते हैं। छोटी साली से विवाह करना कोई बुरी बात नहीं है, यदि उम्र में ज्यादा अंतर न हो। परंतु यहाँ खटकनेवाली बात यह है कि चौबेजी को कोई संतान नहीं थी, अतः उनकी पत्नी मंगला ने बिन्नी को पुत्री के रूप में पाला था और मरणासन्न पत्नी ने अपने पति से यह वचन भरवाया था कि वे बिन्नी का पालन-पोषण एक पुत्री के रूप में करेंगे। किन्तु बाद में चौबेजी ससुराल वालों के प्रस्ताव पर पुत्रीवत बिन्नी से ब्याह रचा डालते हैं। कहाँ चौबेजी का यह मानसिक अधः पतन और कहाँ अनूपा का वह त्याग जिसमें वह अपने देवर वासुदेव से विवाह का इन्कार इसलिए कर देती है कि उसने वासुदेव को बच्चे की तरह पाला था।

"शुद्रा" की नायिका गौरा भी अनेक कठिनाइयों के बीच भी अपने पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करती है और जब उसका पति मंगरू उसके चरित्र पर ऊंगली उठाता है तो आत्महत्या के द्वारा वह अपने चरित्र की सच्चाई को उद्घाटित करती है। "सती" कहानी की मुलिया भी "शुद्रा" की नायिका गौरा के आदर्श को और भी जोरदार ढंग से प्रतिष्ठित करती है। मुलिया असाधारण रूपवती है और उसका पति कल्लू बदसूरत है। परंतु

अपने पति पर वह जान छिड़कती है । वह अपने बीमार पति की जी-जान से सेवा करती है । इस संदर्भ में डॉ.कांतिमोहन की निम्न टिप्पणी हमारा ध्यान बरबस खींचती है :

''बीमार कल्लू की सेवा में जी-जान से लगी मुलिया को देखकर पाठक को महाभारत की सती ''शांडिलिनी'' की याद आ जाती है जो अपने कोढ़ी वेश्यागामी पति को कंधे पर लादकर उसे वेश्या के यहाँ पहुचाती थी। राजपूत नारी पति की लाश के साथ सती हो जाती थी, मुलिया का सती होने का यह ढंग उनसे जुदा है, लेकिन कम महिमामय नहीं । जातिगत स्वाधीनता और प्रलोभनों को ठुकराकर वह दिवंगत पति की स्मृति के प्रति पूरी निष्ठा से समर्पित हैं। ''शूद्रा'' के इस सत्य को प्रेमचंद और भी प्रामाणिक ढंग से पेश करते हैं कि सतीत्व उच्च जातियों का विशेषाधिकार नहीं ।''[४८]

''शुद्रा'' कहानी के संदर्भ में डॉ. कांतिमोहन ने उपर्युक्त तथ्य को और भी सशक्त ढंग से रखा है । यथा- ''इस लंबी कहानी की नायिका गौरा एक कहारिन है । कहानीकार ने उसकी कहानी से यह साबित करने की कोशिश की है कि आम तौर पर कुछ विशिष्ट गुणों या चारित्रिक विशेषताओं को कुछ खास जातियों के साथ जोड़ने का रूझान पाया जाता है, यह गलत और बेबुनियाद है । आम तौर पर ऊँची जाति-बिरादरी की नारियों में ही इस गुण की खोज की जाती है । शायद इसका कारण यह हो कि एक तो इन जातियों में विधवाओं के पुनर्विवाह की व्यवस्था नहीं और दूसरे रोजी-रोटी के लिए उन्हें इतना संघर्ष नहीं करना पड़ता। नीची जातियों की स्त्रियों में सामाजिक तुलना में इन स्त्रियों को काफी मात्रा में सामाजिक सुरक्षा प्राप्त है । लेकिन प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में निचली और अछूत जातियों की महिलाओं में यह गुण प्रभूत मात्रा में प्रदर्शित किया है । ---- ''शुद्रा'' का उद्देश्य भी इसी तथ्य को रेखांकित करना नज़र आता है कि गुणों पर किसी जाति का किन्हीं जातियों की इजारेदारी नहीं है, इसलिए निचली समझी जाने वाली जातियों को भी

उनसे वंचित नहीं समझना चाहिए।'' [४९]

यहाँ केवल नारियों के उदाहरण ही प्रस्तुत है, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि निचली जातियों के पुरूषों में उच्च-मानवीय गुण नहीं होते। प्रेमचंद की कहानियों में कई ऐसे पुरूष भी मिलते हैं जिनमें देवोपम गुण उपलब्ध होते हैं। दोनों ''मंत्र'' कहानियों के बूढ़े ''सद्गति'' का दुखिया, ''सवा सेर गेहूँ'' का शंकर, ''बाबाजी का भोग'' का रामधन, ''सुजान भगत'' का सुजान भगत, ''सौभाग्य के कोड़े'' का ना.रा.आचार्य आदि ऐसे ही पुरूष पात्र हैं। ना.रा. आचार्य नथुवा से ना.रा.आचार्य तक की यात्रा तय करते हैं इस कहानी के द्वारा प्रेमचंदजी यह स्थापित करना चाहते हैं कि तथाकथित निम्न जातियों में प्रतिभा (टैलेण्ट) की कमी नहीं है। यदि उन्हें अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का मौका दिया जाय तो वे यह साबित कर सकते हैं कि वहाँ भी प्रतिभा का अकाल नहीं है।

यहाँ किसी को प्रश्न हो सकता है कि यह तो कोई समस्या नहीं है। यह तो दलित जातियों का एक सकारात्मक पक्ष है। किन्तु यह समस्या इस रूप में है कि हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था के चलते दलित जातियों की मानव-अस्मिता को नकारा जाता है। समाज में आम तौर यह धारणा होती है कि दलित जाति के लोग नीच और कमीन ही होते हैं और उन्हें लाख सुधारने का प्रयत्न करें वे अपनी नीचता से बाज़ नहीं आ सकते। कुत्ते की दुम कभी सीधी नहीं हो सकती। अतः भीषण दारूण गंभीर समस्या यह है कि इन तथाकथित नीची जातियों के उच्च-मानवीय गुणों को जातिगत आधार पर नकारा जाता है। जब कि वास्तविकता यह है कि अच्छे या बुरे गुण सर्वत्र होते हैं। मानव-अस्मिता की पहचान के द्वारा ही इस समस्या को सुलझाया जा सकता है।

इस समस्या की बात के प्रारंभ में ही स्पष्ट किया गया है कि प्रेमचंदजी ने मानव-अस्मिता की बात को दो तरह से प्रस्तुत की है। एक तरह तो ऊपर बतायी गयी है। दूसरी तरह ''कफ़न''जैसी कहानियों में मिलती है। ''कफ़न''के माधव और घीसू कामचोर, बेहया और निखट्टू हैं,

इतना ही नहीं ''कफ़न'' के पैसों से जयाफत उड़ाना उनकी मानवीयता पर भी प्रश्न-चिह्न लगा देती है । माधव और घीसू अमानवीय हो गये हैं । पशु और जानवर हो गये हैं । इस कहानी का विश्लेषण करते हुए डॉ.पारूकान्त देसाई ने इस समस्या पर पर्याप्त विचार किया है । यथा -

''किसी की मर्मान्तक पीड़ा के समय उसकी छाती पर बैठकर खाने मात्र की चिन्ता करना तथा किसीकी मृत्यु के बाद उसके कफ़न के लिए एकत्रित किए गए चन्दे को शराब में उड़ा देना, यह दोनों कार्य अमानवीय हैं । परन्तु यहाँ लेखक की वेधक दृष्टि यह बताना चाहती है कि इस तथाकथित निम्न-वर्ग के लोगों में ऐसे माधव और घीसू क्यों पैदा होते हैं ? उनको ऐसा अमानवीय बनाने के लिए कौन-सी परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं ? लेखक ने इनका विश्लेषण दिया है । एक स्थान पर लेखक कहता है - ''समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनसे कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाते थे वे कहीं ज्यादा संपन्न थे । ऐसी जगह इस मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी'' समाज के उच्च वर्ग के सम्भ्रान्त और बुद्धिजीवी लोग जो मेहनतकशों का शोषण करते हैं वे भी माधव और घीसू की तरह कोई काम नहीं करते परन्तु बिना काम किए ही लोगों के खून-पसीने को पैसों में तब्दिल करके अपनी तिजोरियों को भरने का जो कौशल उन्हें प्राप्त है, वह माधव और घीसू को नहीं है । --- घीसू और माधव को व्यवहार अमानवीय है, पर लेखक यहाँ एक प्रश्न मन में जगाता है कि माधव और घीसू की अमानवीयता का मूल हमारी सामाजिक व्यवस्था में ही है । सैकडों-हजारों वर्षों से समाज का एक वर्ग शोषित-दलित जीवन जी रहा है, जिनके साथ जानवरों से भी बदतर व्यवहार हो रहा है, यदि वह जानवर से भी गया-गुजरा व्यवहार करे तो उसमें क्या आश्चर्य ?''[५०]

(झ) यौन-शोषण की समस्या : ---

आर्थिक शोषण के साथ-साथ दलित जातियों की स्त्रियों का यौन-शोषण एक आम बात है । यदि किसी दलित स्त्री के साथ बलात्कार होता है तो लोग उसे ज्यादा तवज्जो नहीं देते, बल्कि कई बार उसका ही दोष निकालते हैं । आम तौर पर लोग यह समझते हैं कि दलित जातियों का जीवन-मूल्य पशु से अधिक नहीं है, अतः उनको इज्जत से क्या लेना-देना ? इज्जत तो उनकी लूटी जाती है, जिनके पास इज्जत होती है और ये कीड़े-मकोंडों की जिन्दगी जीने वाले लोगों के पास क्या इज्जत नाम की कोई चीज है, जिसे लुटा जा सके । अतः दलित जाति की स्त्रियों को लोग एक आम सम्पति (जनरल कोमोडिटी) समझते हैं ।

दलित जाति की स्त्रियों का यौन-शोषण जो होता है उसका एक दूसरा कारण भी है । यह कारण आर्थिक है । इन जातियों के लोगों को आर्थिक दृष्टया उच्च जाति के लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है । अतः पानी में रहकर मगर से बैर कौन करे वाली उक्ति के अनुसार लोग चुपचाप अपमान और जलालत का कड़वा घूंट पी जाते हैं । आर्थिक दृष्टया कमजोर होने के कारण ही उनकी स्त्रियों को ऊँची जातिवाले लोगों के घरों में या खेतों में काम करना पड़ता है । जहाँ उनके एकांत का गैरलाभ उनकी लाचारदर्जियों के कारण ऊँची जाति के लोग प्रायः लेते हैं ।

उपन्यासों में तो यह बात साफ तौर पर उभरकर आयी है । ''गोदान'', ''मैला आंचल'', ''कब तक पुकारू'', ''अलग-अलग वैतरणी'', ''जल टूटता हुआ'', ''सूखता हुआ तालाब'' प्रभृति उपन्यासों में इस आयाम को स्पष्टतया देखा जा सकता है । ऊँची जाति के लोग निम्न जाति के लोगों जमीन-जानवर को ही नहीं, उनकी स्त्रियों को भी अपनी संपत्ति मानते हैं और उनको भोगने का उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार है, ऐसा उनका मानना है ।

डॉ.रांगेय राधव कृत ''कब तक पुकारूं'' का नायक सुखराम नीच

जाति की स्त्रियों के यौन-शोषण से व्यथित है। एक स्थान पर वह आक्रोश के साथ कहता है - ''यहाँ एक आदमी देवता है, पर हम तो कमीन है। ये बड़े लोग क्यों करते हैं ऐसा ? क्या वे अपने धन और हुकूमत के लिए अत्याचार करने में नहीं कांपते ? तू (सुखराम की पत्नी प्यारी) चुप है। तू जवाब नहीं देती। नट की छोरी पर जवानी आती है और गन्दे आदमी उसे बेइज्जत करते हैं, फिर भी रण्डी की तरह वह जिये जाती है। मर क्यों नहीं जाती ? हम सब मर क्यों नहीं जाते ?''[५१] अधिकांश पिछड़ी जाति के औरत और मरद इस वास्तविकता को स्वीकार कर लेते हैं। प्रस्तुत कहानी में भी यह बताया है। खेल-तमाशा दिखाते समय सुखराम की पत्नी प्यारी पर दारोगा का दिल आ जाता है। वह उसे अपने यहाँ बुलाता है। प्यारी सुखराम के डर के कारण मना कर देती है तब उसकी सगी माँ उसे दारोगा के पास जाने के लिए समझाती है, क्योंकि प्यारी के वहाँ न जाने पर दारोगा का कोप पूरी करनट बिरादरी पर फूटने का उन्हें डर है। प्यारी की माँ प्यारी को समझाती है - ''अरी, यह तो औरत का काम है, उसे बताने की जरूरत ही क्या है ? --- उसमें भला-बुरा क्या ? कोन नहीं करती ?''[५२]

प्रेमचंदजी के कई उपन्यासों में भी यह आयाम चिह्नित हुआ है, किन्तु यहाँ हमारा उपक्रम प्रेमचंद की दलित-जीवन की कहानियों में इसे रेखांकित करने का है। प्रेमचंदजी की ऐसी कहानियों में ''घासवाली'', ''शूद्रा'', ''देवी'', ''बौड़म''तथा ''मेरी पहली रचना'' आदि को परिगणित कर सकते हैं। ''घासवाली'' और ''देवी'' की नायिकाएँ क्रमशः मुलिया और तुलिया ठाकुर चैनसिंह और बंसीसिंह की इस प्रकार की नीयत का विरोध करती हैं और उन्हें बुरी तरह से फटकारती हैं। फलतः ठाकुर चैनसिंह सुधर जाता है और बंसीसिंह तो मारे लज्जा के आत्महत्या ही कर लेता है। परंतु ये दोनों ठाकुर कुछ समय और संस्कारी किस्म के हैं, खलनायक टाईप नहीं। परन्तु ''घासवाली'' कहानी में लेखक ने मुलिया के माध्यम से प्रस्तुत समस्या पर काफी प्रकाश डाला है। मुलिया और

चैनसिंह का निम्नलिखित वार्तालाप इस संदर्भ में द्रष्टव्य है :

''चैनसिंह और समीप आकर बोला - बस, तेरी दया चाहता हूँ।

मुलिया ने सिर उठाकर उसकी और देखा। उसकी लज्जा न जाने कहाँ गायब हो गई।

चुभते हुए शब्दों में बोली - तुमसे एक बात कहूँ, बुरा तो न मानोगे ? तुम्हारा ब्याह हो गया है या नहीं ?

चैनसिंह ने दबी जबान ने कहा - ब्याह तो हो गया, लेकिन ब्याह क्या है, खिलवाड़ है।

मुलिया के होठो पर अवहेलना की मुस्कराहट झलक पड़ी, बोली-फिर भी अगर मेरा आदमी तुम्हारी औरत से इसी तरह बातें करता, तो तुम्हें कैसा लगता ? तुम उसकी गरदन काटने पर तैयार हो जाते की नहीं ? बोलो ! क्या समझते हो कि महावीर चमार है तो उसकी देह में लहू नहीं है, उसे लज्जा नहीं है, अपनी मर्यादा का विचार नहीं है ? मेरा रूप-रंग तुम्हें भाता है। क्या घाट के किनारे मुझसे कहीं सुंदर औरतें और नहीं घूमा करतीं ? मैं तो उनके तलवों की बराबरी भी नहीं कर सकती। तुम उनसे क्यों नहीं दया मांगते ! क्या उनके पास दया नहीं है ? मगर वहाँ तुम न जाओगे; क्योंकि वहाँ जाते तुम्हारी छाती दहलती है। मुझसे दया मांगते हो, इसीलिए न कि मैं चमारिन हूँ, नीच जाति की हूँ और नीच जाति की औरत जरा-सी घुड़की-धमकी या जरा से लालच से तुम्हारी मुट्ठी में आ जायेगी। कितना सस्ता सौदा है। ठाकुर हो न, ऐसा सस्ता सौदा क्यों छोड़ने लगे ?

चैनसिंह लज्जित होकर बोला - मूला, यह बात नहीं। मैं सच कहता हूँ, इसमें ऊँच-नीच की बात नहीं है। सब आदमी बराबर हैं। मैं तो तेरे चरणों पर सिर रखने को तैयार हूँ।

मुलिया - इसलिये न कि जानते हो, मैं कुछ कर नहीं सकती। जाकर किसी खतरानी के चरणों पर सिर रखो, तो मालूम हो कि चरणों पर सिर रखने का क्या फल मिलता है। फिर यह सिर तुम्हारी गरदन पर न रहेगा।'' [५३]

मुलिया तथा चैनसिंह के उपर्युक्त वार्तालाप में दलित जातियों के यौन-शोषण का बड़ा ही सुंदर तथा सटीक विश्लेषण प्राप्त होता है।

(ट) बेगार की समस्या : ---

आदमी मेहनत-मजदूरी करे और उसके बदले में उसे पारिश्रमिक मिले यह तो एक न्यायिक व्यवस्था है। यद्यपि वहाँ भी शोषण की गुंजायश तो रहती ही है। जितनी मजदूरी मिलनी चाहिए उतनी न मिले यह भी एक प्रकार का शोषण ही है और इस प्रकार का शोषण तो आदि-अनादि काल से चल ही रहा है। परंतु उससे भी भयंकर शोषण श्रमजीवी का तब होता है, जब उसे बेगार करनी पड़ती है। बेगार उस श्रम को कहते हैं जिसके बदले में कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता है। हमारी सामंतकालीन व्यवस्था में इस प्रकार का बेगार धन-संपन्न और सत्ता-संपन्न लोग दलितों और गरीबों से लेते रहे हैं। श्रम का मूल्य रूपये - पैसे में न हो और थोड़ा-सा खाना-वाना जूठन के रूप में दिया जाय उसे भी बेगार ही कहा जायेगा। दलित जातियों के साथ यह समस्या प्राचीन काल से जुड़ी हुई है। वस्तुतः यह भी आर्थिक शोषण का ही एक हिस्सा है। दलित और अस्पृश्य जातियों को व्यवसाय संबंधी स्वतंत्रता नहीं थी। उन्हें घृणित-से-घृणित प्रकार का व्यवसाय करना पड़ता था और उनकी सेवाओं की एवज में उन्हें रूपया-पैसा या चीज-वस्तु न देकर जूठा भोजन, त्याज्य वस्तुएँ और उतरन दी जाती थी। जगदीशचन्द्र के एक उपन्यास का नाम ''धरती धन न अपना'' इसलिए है कि प्राचीन और मध्यकाल में दलित और अस्पृश्य जातियों को यह अधिकार नहीं था कि वे जमीन-जायदाद

खरीद सकें, उसके मालिक हो सकें। गुलाम भला मालिक कैसे हो सकते हैं। दलित-लेखक ओमप्रकाश वाल्मिक की आत्मकथा का शीर्षक ''जूठन'' है, वह अनेक अर्थों में सांकेतिक है।

प्रेमचंद की आलोच्य कहानियों में यह बेगार की समस्या भी आयी है। ''सद्गति'' कहानी तो बेगार की अमानुषिकता को रेखांकित करने वाली कहानी ही है। कहानी का नायक दुखिया चमार जाति का है। उसकी लड़की की सगाई है। उसकी साइत निकलवाने के लिए वह पंडितजी महाराज के पास जाता है। साइत के लिए भी वह काफी खर्च करता है। पंडितजी को भरपूर सीधा देने की व्यवस्था वह करके जाता है। ऊपर से दक्षिणा भी देनेवाला था। अभिप्राय यह कि यह गरीब जो काम पंडितजी से करवाने वाला था उसकी तो भरभूर कीमत वह अदा करने ही वाला था। मतलब कि पंडितजी से साइत वह मुफ्त में नहीं निकलवाने वाला था। इस पर भी पंडित जी उसे काम पर लगा देते हैं। एक के बाद एक काम निकलते जाते हैं। एक बड़ी भारी लकड़ी की गांठ उसे फाड़ने के लिए कहा जाता है। इस गांठ पर गाँव के कई लोग हाथ आजमा चुके थे। पंडित-पंडिताइन उसे खाने को भी कुछ नहीं देते हैं। अतः वह बूढ़ा उस गांठ को फाड़ने में दम तोड़ देता है। पंडितजी महाराज दुखिया से जिस प्रकार की बेगार ले रहे हैं उसका संकेत हमें गोंड और दुखी के निम्न वार्तालाप से मिलता है :

> ''दुखी ने चिलम पीकर फिर कुल्हाड़ी संभाली। दम लेने से जरा हाथों में ताकत आ गई थी। कोई आधा घंटे तक फिर कुल्हाड़ी चलाता रहा। फिर बेदम होकर वहीं सिर पकड़ कर बैठ गया।
>
> इतने में वही गोंड आ गया। बोला - क्यों जान देते हो बूढ़े दादा, तुम्हारे फाड़े यह गांठ न फटेगी। नाहक हलकान होते हो।
>
> दुखी ने माथे का पसीना पोंछकर कहा - अभी गाड़ी भर भूसा

ढोना है भाई !

गोंड - कुछ खाने को मिला कि काम ही कराना जानते हैं। जाके मांगते क्यों नहीं !

दुखी - कैसी बात करते हो चिखुरी, ब्राह्मण की रोटी हमको पचेगी !

गोंड - पचने को तो पच जायगी, पहले मिले भी तो। मूंछों पर ताव देकर भोजन किया और आराम से सो गये, तुम्हें लकड़ी फाड़ने का हुक्म लगा दिया। जमींदार भी कुछ खाने को देता है। हाकिम भी बेगार लेता है तो थोड़ी बहुत मजूरी दे देता है। यह उनसे भी बढ़ गये, उस पर धर्मात्मा बनते हैं।'' [५४]

आखिर में इसी गांठ को फाड़ते-फाड़ते दुखी दम तोड़ देता है। चमार लोग तो उसकी लाश भी उठा लाते पर गोंड चमारन में जाकर सबको कह आता है कि मुर्दा उठाने मत जाना। अब पुलिस की तहकीकात होगी। लाश उठाओगे तो तुम भी पकड़े जाओगे। अतः पुलिस के डर से कोई चमार लाश उठाने नहीं जाता। इस प्रकार पुलिस का डर, धर्म के डर से बड़ा साबित होता है।

''सवा सेर गेहूँ'' कहानी में शंकर जो जिन्दगी भर विप्रजी महाराज की गुलामी करता है, वह भी एक प्रकार से तो बेगार है। शंकर कभी सवा सेर गेहूँ विप्रजी महाराज से उधार लाया होगा। उसके बाद की फसल में उसने खलिहानी में उससे दुगुने गेहूँ दस्तूरी के उपरांत दे दिये थे और अपने तईं निश्चिन्त हो गया था। सात साल के बाद विप्रजी महाराज उस बकाया गेहूँ का हिसाब निकालते हैं। ''सवा सेर गेहूँ'' बढ़ते-बढ़ते साढ़े पाँच मन हो गये थे। गेहूँ की कीमत लगाकर साठ रूपये का स्टाम्प लिखवा लिया जाता है। एक साल कड़ी मजदूरी करके शंकर वह साठ रूपये भी लौटा देता है, पर तब तक उसका सूद पन्द्रह रूपये और हो जाता है। तीन साल में उसके एक सौ बीस रूपये हो जाते हैं और उसके एवज

में शंकर को विप्रजी महाराज के यहाँ बंधुआ मजदूर की नौकरी करनी पड़ती है। यह भी एक प्रकार से बेगार है। वह बेगार तो कुछ घंटे या कुछ दिनों की होती है, पर यह बेगार तो जीवन-भर की है।

''सौभाग्य के कोड़े''कहानी में रायसाहब एक अनाथ दलित बालक को अपनी कोठी में आश्रय देते हैं। कहने को आश्रय है, धर्म का काम है, पर यह भी एक प्रकार की बेगार है। कोठी के एक कोने में नथुवा पड़ा रहता है। जूठन खाता है, उतरन पहनता है और पूरे बंगले की सफाई करता है। रायसाहब उसे एक ईसाई के पंजे से छुड़ा लाये थे। ईसाई हो जाता तो पढ़ता-लिखता कुछ बन जाता। पर रायसाहब को इससे मतलब। अपने मन में तो वे शायद सोच रहे थे कि उन्होंने एक हिन्दू (?) बच्चे को ईसाई होने से बचा लिया और बड़े धर्म का काम किया। पर सवाल यह उठता है कि क्या उनका यह कार्य निःस्वार्थ है, नहीं, उन्हें तो एक फोकट का, बेगार करनेवाला नौकर मिल गया।

''दूध का दाम'' कहानी का मंगल भी इसी प्रकार का एक अनाथ बालक है। उसकी माँ भूंगी महेशनाथ जमींदार के बच्चे की दाई भी थी और दूध-पिलाई भी। वैसे तो जमींदारिन खासी मोटी-ताजी थी, पर उन्हें दूध नहीं आता था। अतः उनका बेटा साल-भर भूंगी के दूध पर पलता रहा। जमींदार ने पाँच बीघे जमीन माफी देने का वादा किया था। भूंगी का पति गूदड़ प्लेग की चपेट में मारा गया। जमींदार साहब के यहाँ भूंगी का खूब मान-सम्मान होता था, पर मोटेराम शास्त्री ने धर्म की बात चलाकर भूंगी को वहाँ से निकलवा दिया और एक दिन जमींदार साहब की कोठी का परनाला साफ करते हुए भूंगी को सांपने डंस लिया। अब रह गया छोटा बालक मंगल जो उनकी जूठन पर पल रहा है। लोग बाबू महेशनाथ की उदारता की सराहना करते थकते नहीं है, पर यह भी एक प्रकार की ''टेकन की टेकन और सेकन की सेकन'' है। बच्चा मंगल बड़ा होगा तो जमींदार साहब को एक मुफ्त का नौकर मिल जायेगा। यह भी एक प्रकार की बेगार होगी।

(ठ) शैक्षिक समस्या : ---

धर्म और शास्त्र की आड़ में दलित जातियों को हजारों वर्षों से शिक्षा जैसे बुनियादी अधिकार से वंचित रखा गया। दलित जातियों पर तरह-तरह की जो निर्योग्यताएँ (डिसएबिलिटीज़) थोपी गयीं थी, उनमें शिक्षासंबंधी निर्योग्यता भी आ जाती है। इस संदर्भ में डॉ.एम.एल.गुप्ता लिखते हैं :

''अस्पृश्यता के नाम पर समाज के इतने बड़े वर्ग को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित रखा गया और चेतना-शून्य और विवेकहीन बना दिया गया। करोड़ों व्यक्तियों को शिक्षा से वंचित रखकर किसी समाज के प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती। इसके अलावा गंदे और घृणित समझे जाने वाले कार्यों में अस्पृश्यों को लगाये रखकर और बदले में भोजन की बची हुई जूठन, फटे-पुराने वस्त्र और टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ देकर इनके प्रति घोर अन्याय किया गया है। ऐसी स्थिति में इन्हें दरिद्रता और अशिक्षा के मध्य अपना जीवन बिताना पड़ा है।''[५५]

यह तो घोर अन्याय है कि किसी वर्ण-विशेष के लोगों को अशिक्षित रखा जाय, सामाजिक और धार्मिक विधान ही ऐसा बनाया जाय कि व्यक्ति की आत्मोन्नति के सारे मार्ग अवरूद्ध हो जायें, उसे जान-बूझकर योजना बद्ध तरीकों से दरिद्र रखा जाय, उसे केवल गंदे और घृणित कार्य की सौंपे जाये, दूसरे प्रकार के कार्य करने की सोच पर पाबन्दी लगायी जाय, उसे हर तरह से रोका जाय और फिर उसकी इसी अशिक्षा, असंस्कार, गरीबी और गन्दगी के कारण उसे त्याज्य और अस्पृश्य समझा जाय। इस संदर्भ में डॉ.गुप्ता ने बताया है :

''मनुस्मृति में बतलाया गया है कि अस्पृश्य के किसी प्रकार की राय न दी जाय, न ही उसे भोजन का शेष भाग ही दिया जये, नही उसे देवभोग का प्रसाद ही मिले, न उसके समक्ष पवित्र विधान की व्याख्या की जाय, न

उस पर तपस्या या प्रायश्चित का भार डाला जाया। ..... अस्पृश्यों को जन्म से ही अपवित्र माना गया है और इसी कारण इनके शुद्धिकरण के लिए संस्कारों की व्यवस्था नहीं की गयी है। हिन्दुओं के शुद्धिकरण हेतु धर्म-ग्रंथों में सोलह प्रमुख संस्कारों का उल्लेख मिलता है। इनमें से अधिकांश को पूरा करने का अधिकार अस्पृश्यों को नहीं दिया गया है। इन्हें विद्यारम्भ, उपनयन और चूड़ाकर्म जैसे प्रमुख संस्कारों की आज्ञा नहीं दी गयी है। ..... अस्पृश्य व्यक्ति के लिए जो पवित्र विधान की व्याख्या करता है, वह उस अस्पृश्य व्यक्ति के साथ स्वयं भी असंवृत्त नामक नरक में डूब जायेगा। अस्पृश्य लोगों को पूजा, आराधना, भगवत-भजन, कीर्तन आदि का कोई अधिकार नहीं दिया गया है। ब्राह्मणों को इनके यहाँ पूजा, श्राद्ध तथा यज्ञ आदि कराने की आज्ञा नहीं दी गयी है।''[५६]

प्रेमचंदजी की अधिकांश कहानियों के दलित पात्र अशिक्षित हैं। कारण स्पष्ट है, प्रेमचंद समाज को लिख रहे हैं और जब समाज में उनकी शिक्षा का कोई विधान ही नहीं है, तो शिक्षित व्यक्ति कहाँ से आयेंगे। फिर भी ''सौभाग्य के कोड़े'', ''आगा-पीछा'' तथा ''लाल फीता'' जैसी कहानियों के माध्यम से प्रेमचंदजी यह संकेत देते हैं कि जहाँ-जहाँ किसी दलित युवक को शिक्षा का लाभ मिला है वहाँ अन्य लोगों की तुलना में वह पीछे नहीं रहा है। ना.रा.आचार्य (नथुवा), भगतराम और हरविलास इसके उदाहरण हैं; जो क्रमशः संगीताचार्य, प्रोफेसर तथा डिप्टी मैजिस्ट्रेट के ऊँचे पद पर अपनी बुद्धि-प्रतिभा और योग्यता के बल पर पहुँचते हैं।

शिक्षा से बुद्धि का विकास होता है। उससे मनुष्य में विचार-शक्ति का उदय होता है। उसमें तर्क-शक्ति का उदय होता है। दलित जातियों में यदि विचार और तर्क का उदय होगा तो उनका शोषण कैसे किया जा सकता है, इस सोच के कारण उन्हें हमेशा-हमेशा अशिक्षित रखने की एक साजिश-सी चलती रही। एक आदमी आगे बढ़ा, पढ़ा और उसने ज्ञान की रोशनी पायी। नाम है उनका डॉ. बाबासाहब आंबेडकर। इस एक व्यक्ति ने बीसवीं सदी के दलितों को कितना बदल दिया, उसका प्रमाण तो

भारतीय दलित साहित्य ही है। ''सद्गति'', ''सवा सेर गेहूँ'', ७''पूस की रात'', ''बाबाजी का भोग'',''मंदिर''आदि तमाम कहानियों में दलितों का जो शोषण दिखाया गया है उसके पीछे उनकी अशिक्षा ही कारणभूत है। ''सवा सेर गेहूँ'' बढ़कर सात साल में साढ़े पांच मन कैसे हो गये। ''सद्गति'' का दुखिया पंडितजी के यहाँ कुछ खाये-पिये बिना बेगार करता है और चिलम के लिए बेचारा आग मांगने घर में क्या पहुँच जाता है उसे लगाड़ दिया जाता है। इस पर भी उसके मन में पंडित-पंडिताइन के लिए कोई मैल नहीं दिखता। इसके लिए भी वह स्वयं को ही दोषी मानता है। वह सोचता है - ''दुखी के कानों में इन बातों की भनक पड़ रही थी। पछता रहा था, नाहक आया। सच तो कहती हैं। पंडित के घर में चमार कैसे चला आये। बड़े पवित्तर होते हैं ये लोग, तभी तो संसार पूजता है, तभी इतना मान है। भर-चमार थोड़े ही हैं। इसी गाँव में बूढ़ा हो गया; मगर मुझे इतनी अकल भी न आई।''[५७]

उपर्युक्त कथन में दुखी ''संसार'' शब्द का प्रयोग करता है और उसी में वह कहता है कि उसी गाँव में वह बूढ़ा हो गया। अर्थात् उसका संसार वही उसका गाँव है। बाहर कहीं गया नहीं। ''मंत्र'' कहानी का बूढ़ा तक करता है। वह कहता है कि जो दूसरे लोग शराब पीते हैं और मांस-मच्छी खाते हैं उनके तो तुम तलवे चाटते हो। उसका संकेत अंग्रेज हाकिमों के लिए था। वह ऐसा कह पाता है या सोच पाता है, क्योंकि उसने ''संसार'' देखा है। दुखिया का संसार तो उसका गाँव ही है और इसका कारण उसकी अशिक्षा है। समुद्र लांघने के पाप का विधान भी इसलिए है कि लोग यदि दूसरे देशों में जायेंगे तो देखेंगे विचारों के आसमां और भी हैं, सितारों के आगे जहाँ और भी हैं। संगठित अत्याचार का सामना शिक्षा और संगठन से ही किया जा सकता है। इसीलिए डाक्टर साहब कहते थे -

''शिक्षित बनो, संगठित बनो।'' ''मंत्र'' का बूढ़ा ललकार सकता है, क्योंकि उसके पास ऐसे लोगों का संगठन है जो उसकी तरह सोचते

और करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस दिन दलित वर्ग के लोग शिक्षित और संगठित हो जायेंगे उस दिन उनका शोषण करना मुश्किल हो जायेगा।

(ड) अंध-विश्वासों से उत्पन्न समस्याएं : ---

अशिक्षा के कारण ही अंध-विश्वास है। शिक्षित व्यक्ति का चिंतन तार्किक और वैज्ञानिक होता है, अतः वह आसानी से अंध-विश्वासों का शिकार नहीं हो सकता। "सवा सेर गेहूँ" के शंकर की दुर्गति के पीछे उसका अंध-विश्वास भी कारणभूत है। वह सोचता है कि ब्राह्मण का कर्ज नहीं चुकाया तो न जाने उसकी क्या दुर्गति होगी। वह कर्ज जो उसने कभी लिया ही नहीं। वह यदि अंध-विश्वासु न होता ब्राह्मण-अब्राह्मण की परिभाषा में न सोचकर न्याय-अन्याय की परिभाषा में सोचता। "सद्गति" का दुखी भी ऐसे ही अंध-विश्वासों का शिकार है। वह साइत को ही सबकुछ मानता है। "मंदिर" कहानी की सुखिया अपने बेटे को ठीक करने के लिए अपने चांदी के कड़े गिरवी रखती है और उन पैंसों से बच्चे का इलाज कराती तो शायद बच जाता। "बाबाजी का भोग" का रामधन अहीर भी अंध-विश्वास का ही शिकार है। उसे डर है कि कहीं बाबा शाप न दे दें।

(ढ) मनोवैज्ञानिक समस्याएँ : ---

मानव-जीवन की समस्त समस्याएँ आर्थिक-पारिवारिक या सामाजिक नहीं होतीं। कुछ समस्याएँ मनोवैज्ञानिक प्रकार की भी होती हैं और ये समस्याएँ समाज के सभी वर्गों, जातियों और तबकों में पायी जाती हैं। यह एक अलग मुद्दा है कि सुशिक्षित, संपन्न और नगरीय समाज के लोगों में मनोवैज्ञानिक समस्याओं का आधिक्य मिलता है; परन्तु उसका यह

अर्थ कतई नहीं कि गरीब, निम्न और ग्रामीण तबके के लोगों में ये समस्याएँ होती ही नहीं हैं । वस्तुतः मनोवैज्ञानिक समस्याएँ। तो सार्वत्रिक और सर्वकालीन होती हैं निम्न और पिछड़े तबके में दूसरी समस्याएँ इतनी ज्यादा और भीषण होती हैं कि इन समस्याओं का उत्स दिखायी नहीं पड़ता, पर समस्याएँ होती ही नहीं हैं, ऐसा नहीं है । प्रेमचंदजी की दलित-जीवन से सम्बद्ध जो कहानियाँ हैं उनमें भी ये मनोवैज्ञानिक समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में मिलती हैं ।

''आगा-पीछा'' कहानी पूर्णतया मनोवैज्ञानिक प्रकार की है । कहानी का नायक भगतराम एक शिक्षित चमार युवक है । वह एक सुलझे हुए नये विचारों का युवक है । कोकिला नामक एक युवती से वह प्रेम करता है और उससे विवाह करना भी चाहता है । कोकिला की माँ अपने पूर्व-जीवन में वेश्या थी। हालांकि वह अपने उस व्यवसाय को कब का छोड़ चुकी थी और अपनी बेटी के साथ पवित्र जीवन जी रही थी। भगतराम के माँ-बाप पहले तो इस संबंध के लिए तैयार नहीं थे, परंतु कोकिला के व्यवहार से राजी हो जाते हैं । जब उन दोनों के विवाह में और किसी प्रकार का विघ्न नहीं रह जाता है, तब शनैः शनैः भगतराम के मन में शंका-कुशंका के नाग फूं फकारने लगते हैं । वह सोचता है कि कोकिला एक वेश्या की लड़की है, क्या उसके वे संस्कार कभी उछाल नहीं मारेंगे । ऐसी स्त्री का क्या भरोसा? मन में उठे इस संशय के कारण उसका उत्साह मंद पड़ जाता है और वह बीमार हो जाता है । बीमारी की हालत में अचेतावस्था तथा उन्माद में यह बात उसके मुंह से निकल ही जाती है । यथा -

''थोड़ी देर में भगतराम ने आँखे खोलीं और श्रद्धा की ओर देखकर बोले - तुम आ गयी श्रद्धा, मैं तुम्हारी ही राह देख रहा था। यह अंतिम प्यार लो । आज ही सब ''आगा-पीछा'' का अंत हो जायेगा; जो आज से तीन वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था । इन तीनों वर्षों में मुझे जो आत्मिक यंत्रणा मिली है, हृदय ही जानता है । तुम वफा की देवी हो; लेकिन मुझे

रह-रह कर यह भ्रम होता था, क्या तुम खून के असर का नाश कर सकती हो? क्या तुम एक ही बार में अपनी परम्परा की नीति छोड़ सकोगी? क्या तुम जन्म के प्राकृतिक नियमों को तोड़ सकोगी? इन भ्रमपूर्ण विचारों के लिए शोक न करना। मैं तुम्हारे योग्य न था - किसी प्रकार भी और कभी भी तुम्हारे जैसा महान हृदय न बना सका। हाँ, इस भ्रम के वश में पड़कर संसार से मैं अपनी इच्छाएँ बिना पूर्ण किये ही जा रहा हूँ।'' [५८]

यहाँ भगतराम की जो समस्या है, वह मनोवैज्ञानिक प्रकार की है। दलितजाति का होने के कारण वह स्वयं लघुताग्रंथि से पीड़ित है। अतः उसमें आत्मविश्वास की कमी है। दूसरे उसके मन में, अचेतन मन में, यह बात बैठी हुई है कि वह सुशिक्षित है, दिखने में भी ठीक-ठाक है, कोकिला सुंदर है पर वेश्या-पुत्री है और चमार होने के कारण ही उसे यह पसंद करनी पड़ी है। यदि वह ऊँची जाति का होता तो कोकिला जैसी सुंदर, शिक्षित किन्तु किसी कुलीन कन्या से वह विवाह कर सकता था। उसका अचेतन मन कोकिला को कहीं-न-कहीं उच्छिष्ट मान रहा है।

''शुद्रा'' कहानी में मंगरू और गौरा की जो त्रासदी है उसके पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारण है। गौरा अपने पति मंगरू की जान बचाने के लिए गोरा एजण्ट के बंगले पर जाती है, किन्तु अपने सतीत्व का भंग नहीं होने देती। अपने बुद्धि-चातुर्य से वह साहब की मनोवृत्ति को बदलने में सफल हो जाती है। परन्तु मंगरू को ऐसा लगता है कि साहब के ऐश्वर्य के आगे गौरा बिक गयी। यथा -

''मंगरू ने कहा - तुम यहाँ कब आयी ?

गौरा - मैं तो तुम्हारे साथ ही यहाँ आयी थी, तब से यही हूँ।

मंगरू- साहब के बंगले में क्या जगह नहीं है?

गौरा - अगर बंगले की चाह होती तो सात समुद्र पर तुम्हारे पास क्यों आती ?

मंगरू- आकर कौन-सा सुख दे दिया है? तुम्हें यही करना था तो मुझे मर क्यों न जाने दिया?

गौरा ने झुंझला कर कहा - तुम इस तरह की बातें मुझसे न करो। ऐसी बातों से मेरी देह में आग लग जाती है।''[५९]

मंगरू ने मुँह फेर लिया, मानो उसे गौरा की बात पर विश्वास नहीं आया। गौरा मंगरू के इस व्यवहार से मर्माहत हो जाती है, और वह नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेती है। मंगरू की आँखें खुलती हैं, पर तब तक तो बहुत देर हो चुकी थी। मंगरू भी उसके पीछे अपनी जान दे देता है। पर इस पूरी त्रासदी के पीछे मनोवैज्ञानिक समस्या ही कारणभूत है। इसी प्रकार ''देवी'' तथा दोनों ''मंत्र'' कहानियों तथा ''सुजान भगत'' में भी लेखक ने मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को रखा है।

(ण) धर्मान्तरण की समस्या : ---

दलित-जीवन के साथ यह समस्या भी जुड़ी हुई है। इसका प्रारंभ इस्लाम के आगमन के साथ होता है। उसके पूर्व दलितों के पास कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। धर्म और शास्त्र के नाम पर दलित जातियों का हर तरह से शोषण और दलन होता था। अतः जब इस्लाम का आगमन हुआ, तब ऐसे दलित जो इन अत्याचारों और अन्यायों से आरिज़ आ चुके थे, इस्लाम को अंगीकृत कर लेते हैं। इस संदर्भ में डा.रामधारीसिंह दिनकर अपने ''संस्कृति के चार अध्याय'' नामक ग्रंथ में लिखते हैं -

''ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने के पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी, जो ब्राह्मणों से असंतुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई पंडित के ''शून्यपुराण'' से जान पड़ता है क एक प्रकार के तांत्रिक-बौद्ध मुसलमानों को ''धर्म-ठाकुर''का अवतार समझने लगे थे। ..... अतएव निष्कर्ष यही निकलता हे कि बौद्धों के प्रभाव में चलनेवाली हिन्दू जनता का एक अच्छा-खासा अंश ऐसा भी था जो हिन्दुत्व से इस्लाम को श्रेष्ठ समझता

था और जिसे सचमुच ही, यह आशा हो चली थी कि इतने दिनों तक ब्राह्मणों और शास्त्रों ने मिलकर जनता पर जो अत्याचार किया है, मुसलमानों के हाथों उस अत्याचार का अंत होनेवाला है। मुसलमान जब पंजाब में ऊधम मचाने लगे, तब उनके उपद्रवों से और लोग चाहे रूष्ट हुए हों शून्यपुराण का कवि बहुत प्रसन्न था।''[६०] कहना न होगा कि हिन्दुओं के इस ''अच्छे-खासे'' अंश में दलित जाति के चेतना-संपन्न लोग ही अधिक थे।

इसी प्रकार जब ईसाई धर्म-प्रचारकों का आगमन हुआ तो बहुत से दलित उस धर्म की ओर उन्मुख हुए। हिन्दू समाज में उनकी निम्न स्थिति ही उसके लिए कारणभूत है। यदि अपने धर्म में उन्हें थोड़ा-सा भी सम्मानपर्णू स्थान मिला होता तो ये लोग अन्य धर्मों की ओर आकर्षित न होते। मद्रास प्रेसिडेन्सी के निम्न आंकड़े इसका साक्ष्य प्रस्तुत कर रहे हैं कि प्रत्येक १०,००० लोगों में से कितने लोग मुसलमान या ईसाई हो रहे थे -

जनगणना वर्ग	मुसलमान	ईसाई
१८८१	६२०	२२८
१८९१	६३०	२४४
१९०१	६४२	२६९ [६१]

आर्यसमाजी आंदोलन के भारतव्यापी बनने के बरसों बाद वेलेण्टाइन चिरोल ने लंदन के ''टाइम्स''अखबार में लिखा - ''मद्रास के बिशप का दावा हे कि पिछले चालीस वर्षों। में, केवल तेलुगु प्रान्त में लगभग दो लाख पचास हजार पंचम (दक्षिण भारत की एक अछूत जाति) ईसाई बन गये हैं। त्रावणकोर में सात लाख अछूत ईसाई बने।''[६२]

प्रेमचंद जी भी इस समस्या से परिचित थे और उनकी वस्तुगामी दृष्टि इसे अनदेखा नहीं कर सकती थी। ''मंत्र'' कहानी में उन्होंने इस समस्या का यथार्थ चित्रण किया है। ''मंत्र'' कहानी का बूढ़ा एक दलित-चेतना संपन्न व्यक्ति है। इस कहानी के द्वारा प्रेमचंदजी यही कहना चाहते हैं कि

जब तक सवर्ण हिन्दू छोटी जाति के लोगों को निम्न और कमीन समझते रहेंगे, तब तक इस समस्या का कोई हल निकलनेवाला नहीं है।

''सौभाग्य के कोड़े'' कहानी का नथुवा भी ईसाई हो जाता, किन्तु रायसाहब उसे एक मिशनरी के हाथों से छुड़ा लाते हैं। यहाँ भी प्रेमचंदजी इस बात को बराबर रेखांकित करते हैं कि रायसाहब को नथुवा के पढ़ाई-लिखाई की कोई चिन्ता नहीं थी। नथुवा एक अच्छा-सम्मानित जीवन बितावे यह उनकी मंशा नहीं थी। वे तो सिर्फ चाहते थे कि वह ईसाई न हो जाए, क्योंकि ईसाई हुआ कि फिर हाथ से गया। यहाँ एक बात ध्यानार्ह है कि अन्य धर्मावलंबी प्रचारक, विशेषतः ईसाई धर्म-प्रचारक, छोटी जाति के लोगों को ललचाते हैं, उन्हें आर्थिक आधार प्रदान करते हैं, पर केवल इतने मात्र से पिछड़ी जाति के लोग धर्म-परिवर्तन नहीं करते हैं। वस्तुतः इसके जातिगत अन्याय और अपमान ही है। जगदीशचन्द्र कृत उपन्यास ''धरती धन न अपना'' में नंदसिंह के चरित्र द्वारा इसे भलीभांति उद्घाटित किया गया है।

(त) अन्य समस्याएँ : ---

उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त दलित-जीवन में अन्य कई समस्याएँ मिलती हैं जो किसी-न-किसी रूप में उल्लिखित समस्याओं से जुड़ी हुई हैं। इनमें एक अमानवीयता की समस्या है। मनुष्य अमानवीय हो जाता है। ''कफ़न'' कहानी के माधव और धीसू इसके उदाहरण हैं। ''लांछन'' कहानी के दलित पात्र को भी इसमें ले सकते हैं। इस अमानवीयता और पशुता के कारणों की पड़ताल करनी होगी। इस वर्ग के लोगों के साथ जानवर और पशु जैसा व्यवहार किया गया है, अतः यदि कालान्तर में उनकी मनुष्यता मर जाती है, तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती। कुछ समस्याएँ सामाजिक अवधारणाओं से उत्पन्न होती हैं।

समाज की ऊँची जातियों के लोग दलित जातियों को नीच, कमीन, कुसंस्कारी समझते हैं और अपनी ऐसी समझ के रहते वे उनके साथ उसी नजरिये से पेश आते हैं। गंदगी भी एक समस्या है। दलित वर्ग के लोगों में गंदगी पायी जाती है। इसके कई कारण हैं, पर मुख्य कारण तो गरीबी है। गरीबी और गंदगी में चोली-दामन का साथ रहता है। दूसरे इन जातियों को प्रारंभ से गंदे-गलीच कामों से जोड़ा गया है। गंदगी के साथ रहते-रहते उसे सहने की एक आदत भी पड़ जाती है। ऊँच-नीच की जातिगत भावना को उचित और न्यायिक ठहराने के लिए पंडितों ने इनमें फूट डाल दी है और इसलिए दलित जातियों में भी ऊँच-नीच का जातिगत संस्तरण (हायार्की) पाया जाता है। "आगा-पीछा" का भगतराम यदि समझता कि वह दलित है और कोकिला भी दलित है, तो वह समस्या न आती जिसके कारण उसे मरना पड़ता है। वेश्या भी दलित ही होती है। दलित जातियों का जो शोषण होता है; उसका एक कारण उनका पारस्परिक असंगठन है। उनमें अंदर-अंदर ईर्ष्या-द्वेष-जलन आदि के भाव होते हैं, अतः वे ऊँची जातियों के हाथे बनते हैं।

निष्कर्ष

अध्याय के अंत में उस पर एक विहंगम दृष्टिपात करते हुए हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि मानव-जीवन संघर्ष और समस्याओं से परिपूर्ण हैं। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कोई-न-कोई समस्या तो रहेगी ही। इस मामले में राजा और रंक सब बराबर हैं। परंतु हमारी सामाजिक व्यवस्था, उसमें परिव्याप्त विषमता और गैर-बराबरी, कुछ निम्न कही जानेवाली जातियों पर थोपी गयीं नियोग्यताओं के कारण दलित जीवन में कुछ और अतिरिक्त समस्याएँ पायी जाती हैं। इन समस्याओं में अस्पृश्यता की समस्या, मंदिर-प्रवेश की समस्या, आर्थिक समस्या, आर्थिक शोषण की समस्या, धार्मिक शोषण की समस्या, अत्याचार और अन्याय की समस्या,

मानव-अस्मिता की समस्या, यौन-शोषण की समस्या, बेगार की समस्या, शैक्षिक समस्या, अंध-विश्वास प्रेरित समस्या, धर्मान्तरण की समस्या आदि मुख्य हैं। प्रस्तुत अध्याय में उक्त सभी समस्याओं पर प्रेमचंद की दलितजीवन पर आधारित कहानियों के परिप्रेक्ष्य में विचार-विमर्श किया गया है जो यथा संभव वस्तुलक्षी रहा है।

: संदर्भानुक्रम :

(१) द्रष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास : प्रेमचंदोत्तर काल": डॉ.रामशोभितप्रसाद सिंहः पृ.१५९

(२) बिट्वीन द लाइन्स : कुलदीप नायर : संदेश : दिनांक ९-१०-०२ : पृ.६ (गुजराती से हिंदी में भाषांतर)

(३) साहित्यिक सुभाषित कोश : हरिवंशराय शर्मा : पृ.६०-६१

(४) वही : पृ.६०

(५) वही : पृ.६१

(६) वही : पृ.६०

(७) प्रेमचंद साहित्य में दलित चेतना : डॉ.बलवंत साधू जाधव : पृ.३३

(८) द्रष्टव्य : वही : पृ.३३

(९) द्रष्टव्य : वही : पृ.३९-४०

(१०) वही : पृ.४१

(११) वही : पृ.४०-४१

(१२) सौभाग्य के कोड़े : मानसरोवर भाग-३ : पृ.१८२

(१३) वही : पृ.१८२

(१४) बापू के हरिजन : महात्मा गांधी : हिंदी अनुवाद-परिपूर्णानंद वर्माः पृ.३-५

(१५) प्रेमचंद और अछूत समस्या : डॉ.कांतिमोहन : पृ.१३४-१३५

(१६) ठाकुर का कुँआ : मानसरोवर भाग-१ : पृ.१०७

(१७) ठाकुर का कुँआ : मानसरोवर भाग-१ : पृ.१०८

(१८) मंत्र : मानसरोवर भाग-५ : पृ.३४

(१९) मंत्र : मानसरोवर भाग-५ : पृ.४३

(२०) विविध प्रसंग : प्रेमचंद : पृ.४५५

(२१) मंदिर : मानसरोवर भाग-५ : पृ.५

(२२) वही : पृ.३

(२३) वही : पृ.३-४

(२४) वही : पृ.५

(२५) विविध प्रसंग भाग-२ : प्रेमचंद : पृ.४५७

(२६) घासवाली : मानसरोवर भाग-१ : पृ.२४४

(२७) वही : पृ.२५३

(२८) पूस की रात : मानसरोवर भाग-१ : पृ.१२५

(२९) सवा सेर गेहूँ : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१४१-१४२

(३०) सभ्यता का रहस्य : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१४८

(३१) सवा सेर गेहूँ : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१३८

(३२) वही : पृ.१३९

(३३) वही : पृ.१३९

(३४) वही : पृ.१३९

(३५) बाबाजी का भोग : मानसरोवर भाग-३ : पृ.२५१

(३६) प्रेमचंद और अछूत समस्या : डॉ.कांतिमोहन : पृ.१५७

(३७) सद्गति : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१४

(३८) वही : पृ.१४

(३९) सवा सेर गेहूँ : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१४०

(४०) सद्गति : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१०

(४१) वही : पृ.१०

(४२) वही : पृ.१२

(४३) वही : पृ.१२

(४४) वही : पृ.१३

(४५) सौभाग्य के कोड़े : मानसरोवर भाग-३ : पृ.१७२

(४६) हंस : संपादकीयः नवंबर-२००२ : पृ.४

(४७) अलग्योझा : मानसरोवर भाग-१ : पृ.१-२

(४८) प्रेमचंद और अछूत समस्या : डॉ.कांतिमोहन : पृ.१६३

(४९) वही : पृ.१६२

(५०) युग निर्माता प्रेमचंद तथा कुछ अन्य निबंध : डॉ.पारूकांत देसाई : पृ.७२-७३

(५१) कब तक पुकारूँ : डॉ.रांगेय राधव : पृ.३७८

(५२) वही : पृ.४७-४८

(५३) घासवाली : मानसरोवर भाग-१ : पृ.२४६-२४७

(५४) सद्गती : मानसरोवर भाग-४ : पृ.१३-१४

(५५) भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डॉ.एम.एल.गुप्ता : पृ.२८३-२८४

(५६) वही : पृ.२७९

(५७) सद्गति : मानसरोवर भाग-१ : पृ.१२

(५८) आगा-पीछा : मानसरोवर भाग-४ : पृ.९१-९२

(५९) शूद्रा : मानसरोवर भाग-२ : पृ.२६९

(६०) संस्कृति के चार अध्याय : पृ.२६४

(६१) प्रेमचंद और अछूत समस्या : डॉ.कांतिमोहन : पृ.५७

(६२) वही : पृ.५७